प्रकाशक
नार्दर्न इण्डिया पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली।

मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक
अमर चन्द,
राजहंस प्रेस, दिल्ली।

कहानी की कहानी

कहानी की कहानी कहना सरल भी है और कठिन भी।

सरल तो इसलिये कि कहानी हमारे जीवन और उसकी अनुभूतियों से अलग कोई चीज़ नहीं। संसार के इस प्रांगण में आंख खोलते ही मानव कहानी कहनी और सुननी शुरू करता है। आप उसकी भाषा न समझें, वह आपकी भाषा न समझे, यह अलग बात है; परन्तु उसका पहला रुदनस्वर कहानी का प्रथम परिच्छेद होता है। समय के साथ-साथ जीवन-कहानी के पन्ने पलटते चले जाते हैं। उसकी भाषा को आप समझने लगते हैं, आपकी भाषा को वह समझने लगता है, तो भी अनेकों बातें आप नहीं समझते; अनेकों वह नहीं समझता। किन्तु कहानी बढ़ती चली जाती है। इसमें उतार-चढ़ाव होते हैं। सुख और दुःख। आनन्द और विषाद। सौम्यता और उन्माद। प्रकाश और अंधकार। सरसता और नीरसता। मिलन और विरह। सब कुछ होता है। और अंततोगत्वा एक आह। एक हिचकी। और कहानी समाप्त होती है!

इस कहानी से कौन परिचित नहीं? अनादिकाल से यह कहानी चली आती है। अनन्तकाल तक यह कहानी चलती रहेगी। आज तक अनेकों लेखकों ने इस कहानी को चित्रित करने की सफल-असफल चेष्टायें की हैं। रूप कोई रहा हो, शैली कोई रही हो, ढंग कोई रहा हो, भाषा कोई रही हो; उद्देश्य सब का एक था कि जीवन की विभिन्न अनुभूतियों में से किसी को सजीव कर सकें। और यह चेष्टा आज

आरम्भ नहीं हुई। आज से कुछ वर्ष या कुछ शताब्दी या पहले भी शुरू नहीं हुई। युगों पहले, जब इस धरती पर पहले मानव का जन्म हुआ था, तब से यह चेष्टा जारी है। निश्चय ही तब कोई भाषा नहीं थी। संकेतों का भी कोई अर्थ नहीं था। उसके मन-मस्तिष्क में कोई अनुभूति थी या नहीं, यह भी कहा नहीं जा सकता। परन्तु जब पुतलियों को पलकों ने आवरणहीन किया, तब उसने कहानी देखनी शुरू की। उसके सामने प्रकृति-नटी का विस्तृत वैभव था! इससे सुन्दर कहानी आज तक कोई चित्रित नहीं कर सका। जब उसके कानों में पत्तों का मर्मर और नदी का कल-कल स्वर पड़ा तो उसने कहानी सुननी शुरू की। इससे मधुर कहानी आज तक कोई कह नहीं सका। और यह देख-सुनकर जब उसके अधर अपने आप एक-दूसरे से अलग हो गये तो उसने कहानी कहनी शुरू की। इससे अधिक स्वाभाविक कहानी आज तक कोई कह नहीं सका।

परन्तु कहानी को कहानी कहना बहुत कठिन है।

क्योंकि कहानी का अर्थ है—साहित्य। साहित्य का इतिहास होना; कोरी कल्पना नहीं। पहले मानव ने सुन्दरतम, मधुरतम, और स्वाभाविकतम कहानी भले ही देखी, सुनी या कही हो; परन्तु उस कहानी का साहित्य में कोई स्थान नहीं। कहानी का इतिहास खोजने के लिये हमें अक्षरों, शब्दों, वाक्यों और भाषा की उन ज़ंजीरों को खोजना पड़ेगा कि जिन्होंने सब से पहले मानव की अनुभूतियों और विचारों को जकड़कर स्थायी कर दिया। इन ज़ंजीरों की खोज सहज नहीं है; क्योंकि साहित्यिक इतिहासवेत्ता इस विषय में सर्वथा असहमत हैं। संकीर्ण राष्ट्रीयता ने जिस तरह संसार के इतिहास को बिगाड़ा है, उसी तरह सांस्कृतिक एवं भाषा-संकीर्णता ने साहित्य के इतिहास को विकृत कर दिया है। विभिन्न देशों के साहित्यिकों ने अपने देश को ही कहानी का उद्गम-स्थान माना है।

इस के लिए केवल उनकी संकीर्णता ही बाधक नहीं; अपितु एक

कठिनाई यह भी है कि हम किस कहानी को कहानी मानते हैं ? संसार का प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद है । इसमें अनेकों दृष्टान्त हैं, जो किसी कथा से कम नहीं । क्या हम उन्हें कहानियाँ मानें? उपनिषद्, दर्शन, जैन-ग्रन्थ, जातक सभी आख्यायिकाओं से भरे पड़े हैं । इसी तरह अन्य धर्मों के धर्म-ग्रन्थ हैं—कुरान बाइबिल, ज़िंदावस्ता । इन में कथाओं-उपकथाओं की भरमार है । आज अनेकों साहित्यिक इन कहानियों की खिल्ली उड़ाते हैं । केवल यही बात नहीं कि इन ग्रन्थों के दृष्टान्तों,आख्यायिकाओं और कथाओं का ढंग आधुनिक कहानियों से सर्वथा भिन्न है, अपितु विदेशी कहानीकार इनमें एक बड़ा दोष यह भी बताते हैं कि इनका उद्देश्य मानव की अनुभूतियों को चित्रित करना नहीं,अपितु उपदेश देना है । जिस कहानी में उपदेश हो, वह भाषण अथवा व्याख्यान तो हो सकता है, परन्तु कहानी नहीं । तब क्या हम इन्हें कहानी-साहित्य में कोई स्थान न दें ?

हमारा विचार इससे सर्वथा भिन्न है ।

वास्तव में कहानी का हम जो रूप आज देखते हैं, उसका प्रारम्भिक रूप इन्हीं ग्रन्थों में मिलता है । इन ग्रन्थों में वर्णित कहानियों ने आधुनिक कहानी-कला के भव्य-भवन की नींव रखी । यदि यह नींव न होती तो यह भवन भी न होता । यही कारण है कि जितनी लोकप्रिय यह कहानियाँ हुई, उतनी लोकप्रिय अन्य अथवा आधुनिक कहानियाँ नहीं हो सकीं । युग और शताब्दियां बीत जाने पर भी आज इन ग्रन्थों की कहानियाँ सभी देशों के सभी घरों में सुनी-सुनाई जाती हैं । इन कहानियों ने हमारे साहित्य को सृजन की शक्ति दी । यह कहानियाँ कहानी के एक युग की प्रतीक हैं । निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि यह युग हमारे साहित्य का स्वर्णयुग था । इसके पश्चात् हमारी कहानी-कला का चाहे कितना ही विकास हुआ है, हमारी कहानियाँ मानव को कोई संदेश नहीं दे सकीं । कला की परिभाषा बदल गई, अथवा कला के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल गया—कुछ कह लीजिए; इस तथ्य को

झुठलाया नहीं जा सकता कि हम मानव को उत्थान से पतन की ओर ले गये ।

कहानी के दूसरे युग को देखिये ।

इसमें आध्यात्मिक कहानियों को हम भूल गये और जीव-जंतुओं की कहानियाँ शुरू हुईं । पंचतंत्र, ईसप की कहानियाँ इसी युग में लिखी गईं । कथा सरित्सागर, बृहत्कथा मंजरी आदि की रचना भी तभी हुई। यह लगभग दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी की बातें हैं। इन कहानियों का सर्वथा स्वाभाविक परिणाम जादू और परी देशों की कहानियाँ हैं। इन कहानियों का सब से बड़ा संग्रह 'अलिफ लैला' है। यह कहानियाँ हमारी विकृत प्रकृति की प्रतीक हैं। एक बादशाह निरंतर एक हज़ार और एक रातों तक बेसिर-पैर की कहानियाँ सुनता रहता है और प्रसन्न होता है। चहारदरवेश, तिलिस्म होशरुबा आदि भी इसी युग की उपज हैं। बाद में इन्होंने भारतीय साहित्यिकों को भी प्रभावित किया और उन्होंने अय्यारी और ठगी की कहानियाँ लिखीं। यद्यपि बाबू देवकीनन्दन खत्री इस युग में नहीं हुए, तथापि चन्द्रकांता-संतति, कुसुमलता, भूतनाथ और वीरेन्द्र वीर आदि पुस्तकें इसी युग की धारा और विचार से संबंधित हैं। निश्चय ही इन कहानियों में आकर्षण और मनोरंजन होता है; इतना कि पाठक एक बार पढ़ना आरंभ करे तो निबटाये बिना उठ नहीं सकता; परंतु न तो इन में सौन्दर्य है और न कला। मानव की निकृष्ट अनुभूतियों को सजग कर उसे विकृत आनन्द देने की चेष्टा की जाती है। तरल मानव उधार को प [illegible] झुकता है, इसलिए इन कहानियों में खोया रहता है। इनसे मनोरंजन भले ही हो, उसे आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

यह प्राचीन कहानियों की कहानी है।

आधुनिक कहानियों का श्रीगणेश साहित्यिक तब से मानते हैं, जब कहानी कहने का अर्थ केवल घटना-वर्णन नहीं अपितु घटना के इर्द-गिर्द अनुभूति-चित्रण समझा जाने लगा। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं

कि पहली कहानियाँ अतीत के गर्भ में समा गईं। साहित्य अमर होता है। प्राचीन ग्रंथों की कहानियाँ मंदिरों, आश्रमों, गिरजाघरों और मसजिदों की छाया में जीवित रहीं तथा जादू और परी देशों की कहानियाँ दादी-नानी की गोद में खेलते बच्चों के साथ पलती रहीं। एक ओर यह क्रम जारी रहा, दूसरी ओर साहित्यकों ने एक नया संसार रचना शुरू किया।

निश्चय ही हिंदी-कहानी-साहित्य ने सोलहवीं शताब्दी से ही जनता को इस कला का रसास्वादन कराना आरंभ कर दिया था। श्री गोकुलनाथ लिखित 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ वैष्णवों की वार्ता', जटमल लिखित 'गोरा बादल' तथा जायसी लिखित 'पदुमावति' हिंदी की प्रारंभिक कहानियाँ कही जा सकती हैं। इसके बाद 'रानी केतकी की कहानी' लिखी गई, जिसके बारे में कुछ साहित्य-पंडितों का विचार है कि यह हिंदी की पहली मौलिक कहानी है। श्री इंशाअल्लाख़ां, श्री लल्लूलाल, श्री शिवप्रसाद, श्री सदल मिश्र, आदि विद्वान् लेखकों ने हिंदी की गोद कहानियों से भरी। इस क्रम में अंतिम नाम भारतेंदु हरिश्चन्द्र का है, जिन्होंने कहानी-युग को एक नई करवट दे दी।

परंतु यह एक तथ्य है कि जब हमारी कहानी-कला अभी शैशवावस्था में पालनों और झूलों में झूल रही थी, तब पाश्चात्य कहानी-कला बहुत उन्नति कर चुकी थी। तुर्गनेव, टालस्टाय, गोर्की, ह्यूगो, मोपासां, चेखोव, मानरो बालज़ाक, सेनकाई विज़, अनातोले फ्रांस आदि आदि विश्व के महान् कहानी-लेखकों ने अपने-अपने देश की भाषाओं में कहानियाँ लिख कर आधुनिक कहानी-साहित्य की नींव डाली। यह मानने में हमें कोई लज्जा नहीं कि हिंदी के लेखकों ने इन विश्व-लेखकों से बहुत कुछ सीखा है और आधुनिक गल्प पर इनकी बहुत गहरी छाप है। हिंदी में आरंभ में जो कहानियाँ छपीं, अधिकतर वे अंग्रेज़ी अथवा अन्य विदेशी भाषाओं से अनुवादित थीं। सरस्वती आदि म सक पत्र बहुत देर तक अनुवादित कहानियाँ ही प्रकाशित

करते रहे। मौलिक हिंदी कहानियाँ बहुत कम होती थीं।

किन्तु, हिन्दी-कहानी-लेखकों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने विदेशी कहानीकारों से विचार लेकर कहानी-कला को अपने देशी वातावरण के इतने अनुकूल ढाला कि जहाँ विदेशी कहानियाँ शुष्क और मनोरंजन रहित होती चली गईं, वहाँ हिन्दी की कहानियाँ उत्तरोत्तर सरस और मनोरंजक होती चली गई हैं। हिंदी के नये लेखकों ने जो कहानियाँ लिखी हैं, उनके जोड़ की कहानियाँ आधुनिक विश्व-साहित्य में नहीं मिलती हैं। अंग्रेज़ और अमेरिकन लेखकों ने कहानियों का जो रूप देना शुरू किया है; उनमें न तो माधुर्य है और न आकर्षण। हिन्दी-कहानी-लेखकों की इस ओर एक और भी बड़ी देन है। आधुनिक पश्चिम-साहित्य यथार्थवादिता में विश्वास रखता है। यथार्थवादिता का अर्थ है नग्नता। नग्नता से सौंदर्य नष्ट होता है या रहता है, इससे अश्लीलता का प्रचार होता है या नहीं, इससे उन्हें सरोकार नहीं। वे केवल एक घटना को, एक मानसिक उद्वेलन को, जैसा है, वैसा ही चित्रित करने में विश्वास रखते हैं। परन्तु हिन्दी लेखकों ने इस 'गुण' को नहीं अपनाया। उन्होंने आदर्शवाद का सहारा लिया। समाज के नंगे चित्र चित्रित करने के बजाय सुधारात्मक ढंग से उसे उन्नत करने की चेष्टा की। हिन्दी-लेखकों में भी कुछ प्रगतिशील साहित्यिक पश्चिम की पूजा करने उठे थे; परन्तु जनता ने उनका तिरस्कार किया। इसीलिये यथार्थवादी अश्लीलता हमारे साहित्य में अधिक नहीं पनपने पाई।

इसका श्रेय हिंदी के अमर कथाकार मुंशी प्रेमचन्द जी को भी है। हिन्दी-कहानी-साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय है। यद्यपि उनसे पहले पंडित किशोरीलाल गोस्वामी, श्री पार्वती नन्दन, श्री जयशंकर प्रसाद, पंडित विश्वंभरनाथ जिज्जा, पंडित विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिकारमण प्रसादसिंह, श्री चतुरसेन शास्त्री, पंडित बद्रीनाथ भट्ट आदि लेखकों ने कहानियाँ लिखीं; तथापि आधुनिक हिन्दी कहानियों के सम्राट्

मुंशी प्रेमचन्द ही थे। उनकी कहानियाँ इतनी सादी और सुलझी हुई हैं कि पाठक न केवल उनमें खो जाता है, अपितु एक विशेष आनंद भी अनुभव करता है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने जब उर्दू से अनादृत होकर हिन्दी जगत् में प्रवेश किया तो हिन्दी कहानियों के इतिहास में एक नये युग का आरंभ हो गया। मुंशी जी इस युग के नेता थे। उनकी कहानियाँ हिन्दी-साहित्य पर छा गईं और उनकी धाक इतनी बैठ गई कि कोई लेखक उन-द्वारा निर्धारित सीमाओं के बाहर जा ही नहीं सका। प्रेमचन्द जी ने भारतीय संस्कृति और भारतीय संस्कृति के प्रतीक गाँवों को सजीव कर दिया। यह वास्तविक यथार्थ-वादिता थी; जिसके सामने खोखली प्रगतिशीलता टिक नहीं सकी और हिन्दी-साहित्य अश्लील रचनाओं से बच गया।

मुंशी प्रेमचन्द जी के बाद हिन्दी में कहानी लेखकों की एक बाढ़-सी आगई। अच्छे-बुरे सैकड़ों कहानी-लेखक क्षेत्र में आये और उन्होंने हिन्दी की गोद भरनी शुरू की। इनमें श्री सुदर्शन, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री अज्ञेय, श्री विनोदशंकर व्यास, श्री चन्द्रगुप्त, श्री यशपाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारत की कुछ और भाषाओं के कहानी-साहित्य ने भी बहुत उन्नति की। इनमें विशेषतः उल्लेखनीय बंगला और गुजराती साहित्य है। बंगला में बंकिम, शरत् और रविबाबू की कहानियों ने केवल देश में ही नहीं, विदेशों में भी आदर पाया। इन लेखकों की छाया हिन्दी-साहित्य पर भी पड़ी, क्योंकि बंगला की कहानियाँ हिन्दी-कहानियों से पुरानी हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेज़ों ने अपने साहित्य का प्रचार पहले बंगला में किया।

—"यश"

कहानी की कला

कहानी और उपन्यास

कई सौ पृष्ठों का उपन्यास भी कहानी है और कुछ वाक्यों का गल्प भी कहानी। परन्तु, उपन्यास और कहानी में बहुत अन्तर है। उपन्यास विभिन्न पात्रों और विभिन्न घटनाओं का एक गुलदस्ता है; कहानी केवल एक फूल। कहानी में केवल एक घटना होती है; मुख्यतः एक पात्र होता है और एक विचार। यह आवश्यक नहीं कि कहानी छोटी हो और उपन्यास बड़ा। यह ठीक है कि कहानी को अंग्रेज़ी में 'शार्ट स्टोरी' कहते हैं। किन्तु, कहानी उपन्यास से बड़ी भी हो सकती है। एक पात्र के जीवन में घटी एक घटना को लेकर अनेकों पृष्ठ लिखे जा सकते हैं और विभिन्न पात्रों की विभिन्न घटनाओं को संक्षेपतः वर्णन किया जा सकता है। इसलिये उपन्यास और कहानी का अन्तर जांचने के लिए कहानी की लंबाई नहीं देखी जाती। कहानी दो-तीन पंक्तियों की भी हो सकती है, जैसे —

दो यात्री थे। एक ने पूछा—'क्या तुमने कभी भूत देखा है ?'

दूसरे यात्री ने पलट कर देखा। वहां कोई नहीं था !

यह संसार की सब से छोटी भूतों-संबंधी कहानी है। इसके विपरीत ऐसी कहानियाँ भी हैं, जो पुस्तकों में पचास-पचास पृष्ठों पर फैल गईं। जब तक उसमें मुख्यतः एक पात्र की एक ही घटना चित्रित की गई है, तब तक वह कहानी ही कहलायेगी।

कहानी और नाटक

वार्तालाप नाटक में भी होता है और कहानी में भी। कहानी लिखने की एक कथोपकथन प्रणाली भी है। इस प्रणाली में लिखित कहानी में केवल वार्तालाप ही होता है, जैसे नाटक के पात्र बोलते चले जाते हैं, वैसे ही कहानी के पात्र भी, परन्तु कहानी और नाटक में भी

बहुत अन्तर होता है। कथोपकथन प्रणाली की कहानियों में वार्तालाप तो होता है; परन्तु दृश्य-चित्रण और अभिनय नहीं। अभिनय और दृश्य-चित्रण नाटक के मुख्य गुण हैं।

कहानी—प्राचीन तथा आधुनिक

प्राचीन कहानियां घटना-प्रधान हैं; आधुनिक कहानियां भाव-प्रधान। प्राचीन कहानियों में किसी घटना को अद्भुत ढंग से वर्णन कर उपदेश अथवा निर्णय देने की चेष्टा की गई है। आधुनिक कहानियों में मनोभावना का विश्लेषण कर साध्य—आवृत्त अथवा अनावृत्त—चित्रित करने की चेष्टा की जाती है। प्राचीन कहानियां प्रायः सुनाने के ढंग से लिखी गई हैं। आधुनिक कहानियां प्रायः कहने के ढंग से। प्रणाली और शैली तो प्रत्येक लेखक और प्रत्येक कहानी के साथ बदलती है।

कहानी के विषय

कहानियों को हम विषयों की लंबी से लंबी तालिका में भी बांध नहीं सकते। संसार की प्रत्येक घटना, मानव के हृदय का प्रत्येक भाव, विधि की प्रत्येक विडम्बना, प्रकृति का प्रत्येक लास्य, धरती का प्रत्येक कण और सृष्टि की प्रत्येक वस्तु कहानी का विषय बन सकती है। तो भी अधिकतर कहानियां निम्नविषयों के इर्द-गिर्द घूमती हैं—राजनैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, जासूसी, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, भावुक, अद्भुत, साहसिक, प्रेम, रूपक, छायावादी, जीव-विद्या-संबंधी, भौगोलिक, धार्मिक, युद्ध-संबंधी, प्राकृतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि।

कहानी की शैली

१. कथोपकथन
२. आत्मचरित्र
३. ऐतिहासिक
४. पत्रात्मक
५. डायरी
६. कथनात्मक

कहानी के शीर्षक

शीर्षक कई ढंग के होते हैं। दो अक्षरों से लेकर कई शब्दों के पूरे वाक्य तक। आरंभ में प्रायः एक शब्द के शीर्षक होते थे। जैसे—'चोरी', 'पाप', 'आग', 'अत्याचार', 'राखी', 'पुण्य', कर्म', इत्यादि। समय के साथ-साथ शीर्षक भी बदले। एक शब्द के बजाय दो-दो और तीन-तीन शब्दों के शीर्षक होने लगे। जैसे—'पाप-पुण्य', 'कर्म का फल', 'चोरी का कारण', 'मानव का अपराध', 'करनी भरनी', इत्यादि। कई कहानियों के शीर्षक लोकोक्तियों और मुहावरों पर भी रखे जाते हैं। जैसे —'कलजुग नहीं, करजुग है !' 'इस हाथ दे, उस हाथ ले !' 'करमगत टारे नाहिं टरे !' अब एक-एक वाक्य के शीर्षक देने का रिवाज भी बहुत हो गया है। जैसे—'मुझे सज़ा क्यों होगी ?' 'मुझे मौत चाहिये !' 'जिसे मैंने मौत की सज़ा दी !' वास्तव में शीर्षकों की यह अन्तिम शैली पश्चिम-साहित्य की है और पहले-पहल अंग्रेज़ी साहित्यकारों ने इस ढंग के शीर्षक जमाने शुरू किये।

कहानी का कथानक

कहानी मुख्यतः एक पात्र और एक घटना पर ही केन्द्रित होती है, इसलिए कहानी के कथानक में तीन गुण होने चाहियें——

१. स्थल-सामंजस्य कहानी की कुल घटना एक ही स्थान पर होनी चाहिये। कला की दृष्टि से उस कहानी को अच्छा नहीं समझा जाता, जिसमें कहानी का आरम्भ भारत में हो और अन्त अमेरिका में। कहानी एक सीमित चीज़ है, इसका घटना-स्थल भी सीमित होना चाहिये।

२. समय-सामंजस्य : जैसे कहानी की कुल घटना एक ही स्थान पर होनी चाहिये, वैसे ही एक ही समय में भी होनी चाहिये। कई कहानीकार कहानी लिखते-लिखते लिख देते हैं 'बीस वर्ष बाद'। इस तरह की बातें अनेकों कहानियों में मिलती हैं; परन्तु, इन कहानियों को

हम कलात्मक नहीं कह सकते। आधुनिक कहानियों की सर्वोत्तम कला यह मानी गई है कि कहानी पढ़ने में जितना समय लगे, कुल घटना भी उतने ही समय में घटी हो।

२. कार्य-सामंजस्य : स्थल और समय के साथ-साथ कथानक की 'क्रिया' भी एक होनी चाहिये। यदि कहानी में अनेकों क्रियाओं को चित्रित करने की चेष्टा की जाय तो घपला हो जाता है। और पाठक वास्तविक बात को भूल जाता है।

प्रायः कहानीकार इन आवश्यक गुणों का ध्यान नहीं रखते। इसका परिणाम यह है कि वे कहानी को उपन्यास का रूप दे डालते हैं। सारे संसार का भ्रमण करने वाले व्यक्ति की जीवनी को हम कहानी नहीं कह सकते। कहानी वही है, जिसमें एक स्थल पर एक समय में एक घटना का वर्णन हो।

कहानी का आरम्भ

कहानी आरंभ करने के भी कई ढंग हैं। प्राचीन कहानियां प्रायः दृश्य-वर्णन के साथ आरंभ होती हैं। कहानी के आरंभ में किसी प्राकृतिक दृश्य का कवितामय वर्णन होता है और उस दृश्य में अचानक नायक अथवा नायिका का प्रवेश होता है। यह ढंग अब बहुत अप्रिय और अकलात्मक हो गया है; क्योंकि इसमें कृत्रिमता अधिक है और स्वाभाविकता कम।

अब कहानी कौतुकभरे ढंग से आरंभ करने का अधिक रिवाज़ हो गया है। इसका कारण हमारी कला का विकास है। कहानी का आरंभ यदि रोचक अथवा आकर्षक न हो तो पाठक का मन उचट जाता है और वह कहानी नहीं पढ़ता। इसलिए आरंभ में ही रोचकता एवं आकर्षण पैदा करने के लिए अनोखे-अनोखे ढंग अपनाए जा रहे हैं। जैसे—आरंभ में ही किसी घटना का उल्लेख। अथवा सर्वथा असंभावित रूप का वार्तालाप। कहानी आरंभ करने का एक तीसरा ढंग बिलकुल ही अनूठा है कि एक व्यक्ति अपनी कहानी किसी दूसरे व्यक्ति को सुनाता

आरंभ करता है। दूसरे व्यक्ति का आभास तो कहानी में मिलता है; लेकिन पाठक का उससे कहीं साक्षात्कार नहीं होता। यह ढंग अब बहुत लोकप्रिय हो रहा है।

कहानी आरंभ करने का एक और ढंग भी है कि कहानी के दो या तीन पात्र अपने-अपने वक्तव्य कह जाते हैं। तीनों के वक्तव्य एक-दूसरे से संबंधित होते हैं। तीनों वक्तव्य पढ़ जायें तो कहानी का कथानक समझ में आता है। लेकिन, यह ढंग बहुत कम लोकप्रिय हुआ है, क्योंकि यह ढंग उपन्यास के अधिक उपयुक्त है।

कहानी का अन्त

कहानी समाप्त करने के भी कई ढंग हैं। प्रायः कहानियां तो एक घटना के स्वाभाविक अंत पर समाप्त हो जाती हैं; लेकिन अधिक रोचक कहानियों का अंत सर्वथा अप्रत्याशित रूप से होता है। पाठक ने ऐसी बात की संभावना भी नहीं की होती। कला की दृष्टि से वही अंत उत्तम है जिसके लिये पाठक तैयार हो। उसे अंत अप्राकृतिक नहीं लगना चाहिये।

प्राचीन कहानीकार कहानी को अंत तक वर्णन करते हैं। और पाठक के अनुमान के लिये कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते। लेकिन आधुनिक कहानीकारों की प्रवृत्ति एक समस्या अथवा प्रश्न खड़ा करने की हो गई है। वे कहानी का अंत इस ढंग से करते हैं कि पाठक अनुमान लगाए, विचार करे और उस प्रश्न का उत्तर अथवा उस समस्या का हल सोचे!

कहानी कला का विवेचन करने के बाद मैं उन कहानीकारों एवं प्रकाशकों को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिनकी कहानी संग्रह में संग्रहीत कर रहा हूँ।

—संपादक

कहानी का विश्लेषण

हम श्री सुदर्शन जी की 'हार की जीत' कहानी का विश्लेषण करेंगे। कहानी-कला के कतिपय नियमों का हमने पिछले पन्नों में उल्लेख किया है। वे नियम इतने अटल नहीं कि उनमें परिवर्तन हो नहीं सकता।

कहानी-कला के जिन उपकरणों को हम यहां प्रयोग करेंगे वे भी पत्थर की लकीर नहीं हैं। हाँ, सुविधा के लिए हम कहानी को कथानक, चरित्र-चित्रण, वार्तालाप भाषा-शैली आदि भागों में विभाजित कर सकते हैं।

कहानी के विधान (टेकनीक) को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक पांच-छः बार कहानी को पढ़े और उस के कला-सौंदर्य के रहस्य को समझने की चेष्टा करे।

'हार की जीत' में विरोधी चरित्र हैं। एक साधु-सन्त है तो दूसरा भयंकर 'डाकू'। कितनी विषमता है।—किन्तु कहानीकार ने अपनी लेखनी से विषमता में समता, घृणा में प्रेम, अशिव में शिव, और पशुत्व में मानवत्व की सृष्टि की है।

हार की जीत

१

माँको अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाक़े में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देखकर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे प्यार, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने प्यारे को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था, रुपया, माल, असबाब, जमीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब एक गाँव से बाहर छोटे से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिये असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह

"हार की जीत" में तीन शब्दों का शीर्षक है। कहानी वर्णनात्मक शैली से प्रारंभ हुई है। 'अन्य पुरुष' प्रणाली का अनुसरण किया गया है।

सुलतान 'घोड़े' की सुन्दरता और शक्ति का मूर्त परिचय प्रारंभ में ही प्रकट हो चला है।

बाबा भारती की आर्थिक दशा, सादगी, स्वभाव, जमीन-असबाब और पशु-प्रेम का परिचय बड़ी कुशलता से मिलता है।

सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रांति-सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँव के लोग इस प्रेम को देखकर चकित थे; कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे; परन्तु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक संध्या समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह उस इलाक़े का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुनकर कांपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिये अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा, और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"खड्गसिंह, क्या हाल है?"

खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया है।"

"कहो, इधर कैसे आ गए?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

'उत्सुकता' चमकी

बाबा भारती का सुलतान घोड़ा दूसरी ओर खड्गसिंह प्रसिद्ध 'डाकू' कहानी में विरोधी चीजों का समागम-सा 'संघर्ष' से पूर्व ही 'कौतूहल' का आभास मिलता है। किंतु इतना हल्का है कि यकायक 'कौतूहल' कहना जँचता नहीं। हाँ, 'उत्सुकता' बढ़ी है।

"क्या कहना ! जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी; आज उपस्थित हो सका हूँ।"

बाबा और खड्गसिंह दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बांका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीजों से क्या लाभ ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुप-चाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् हृदय में हलचल होने लगी। बालकों की-सी अधीरता से वह बोला—"परन्तु बाबाजी; इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा ?"

यह सब 'कौतूहल' झोंका।

२

बाबाजी भी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिये उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाए, और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचककर सवार हो गए। घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया।

बाबाजी के आत्म-बल और डाकू के बाहु-बलका 'संघर्ष'। यह प्रारंभ पात्रों के चरित्रके विकासोन्मुख की प्रथम सीढ़ी है।

वह डाकू था और जो वस्तु उसे पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहु-बल था, और आदमी थे। जाते-जाते उसने कहा—"बाबाजी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।"

झंझावात की भांति 'संघर्ष' का वेग देखिये।

बाबा भारती डर गए। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रतिक्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास बीत गए, और वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गए, और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को, और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक ओर से आवाज़ आई—"ओ बाबा! इस कँगले की भी बात सुनते जाना।"

फिर "कौतूहल" ने झलक दिखाई है।

आवाज़ में करुणा थी। बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों, तुम्हें क्या कष्ट है?"

"उत्सुकता"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा,

मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतरकर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया, और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा, और घोड़े को दौड़ाये लिए जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई। यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

"झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई" इसके साथ ही 'संघर्ष' से पाठकों की हृदय तंत्रियों पर "झटका-सा" लगा। 'संघर्ष' के वेग से 'कौतूहल' तिरोहित हो गया।

"उत्सुकता"

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"जरा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज़ सुनकर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा।"

यह देखिये, कौतूहल' का नया रूप सामने है।

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा जैसे बकरा क़साई की ओर देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा। परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ; केवल यह घोड़ा न दूँगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा। परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा; परन्तु कुछ समझ न सका। हारकर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गड़ा दीं, और पूछा—"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

सुनकर बाबा भारती ने उत्तर दिया—

'कौतूहल' पूर्ण विकसित दशा में।

"उत्सुकता"की कली स्फुटित हुई है।

—"कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।" कहानी 'आदर्शवाद' के 'मानसरोवर' में स्नान कर रही है 'डाकू' के मानसिक 'संघर्ष' का उद्वेग प्रबल 'अन्तर्द्वन्द्व' की सृष्टि कर रहा है।

उत्सुकता की झलक

"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया तो वे किसी ग़रीब पर विश्वास न करेंगे।"

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गए; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे ऊँचे विचार हैं! कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिला जाता था। कहते थे, इसके बिना रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं, भजन-भक्ति न कर रखवाली करते रहे! परन्तु आज उनके मुख पर दुःख की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह खयाल था कि कहीं लोग ग़रीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं; देवता है।

३

रात्रि के अंधकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भौंकते थे। मंदिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न

कहानी आदर्शवाद के मानसरोवर में स्नान करके शशि-कला-सी खिल उठी है।

डाकू का "हृदय-परिवर्त्तन"। पाषाण पसीज उठा है। चरित्र-चित्रण में यह विशेषता है कि पशुत्व में देवत्व की सृष्टि हो रही है।

कहानी में चरम-सीमा के लिए वाता-वरण का सृजन हो रहा है।

Srinagar

कहानी चरम-सीमा, तीव्रतम स्थिति की ओर मंथर गति से बढ़ रही है।

देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे; परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की ओर से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया, और बाहर निकल कर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आँखों में नेकी के आँसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठंडे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार, जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई। साथ ही घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गए।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे,

और अपने घोड़े के गले से लिपट कर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिलकर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते और कहते थे—अब कोई ग़रीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर, ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आँसुओं का उसी भूमि की मिट्टी पर परस्पर मिलाप हो गया।

यह कहानी की चरम-सीमा है।

कहानी में त्रिसामंजस्य की रक्षा सफलतापूर्वक हुई है।

कहानी बाबा भारती की झोंपड़ी से आठ-दस मील के अन्दर ही अन्दर खत्म हुई। यह स्थल एक दूसरे से सुसम्बद्ध—जुड़ा हुआ है। यही स्थल-सामंजस्य की सुन्दरता है।

समय-सामंजस्य में 'कई महीनों' का अन्तर जरूर पड़ता है किन्तु लेखक की कुशल लेखनी ने कहानी के कथानक की शृंखला टूटने नहीं दी। फलस्वरूप 'कई महीनों' का अन्तर 'आजकल'-सा प्रतीत होता है।

'कार्य-सामंजस्य' में कहानी प्रारंभ में धीर-गंभीर मंथरगति-सी चलती है किन्तु ज्यों-ज्यों कहानी आगे बढ़ती है उसमें नदी की धारा-सा वेग—गति में तेजी-सी आ जाती है। घटनाएं संबंधित—गुथी हुई सी हैं।

'हार की जीत' आदर्शवादी कहानी है। पशु-बल पर आत्म-मूबल की विजय ही त्तिमान आदर्शवाद है।

किसान-कवि श्री मुन्शी प्रेमचन्द्र जी की 'पछतावा' कहानी किसान-जीवन का सच्चा चित्र है। जमींदार के अत्याचार-मुकद्मेबाजी से जो कार्य सिद्ध नहीं हो पाया, वह पण्डित दुर्गादास के किसानों के प्रति सद्व्यवहार ने कर दिखाया। हिंसा-दमन 'हृदय-परिवर्तन' का साधन नहीं; बल्कि सहनशीलता, सत्य और 'शान्तिमय ढंग' ही मानव की आत्मा का परिवर्तन कर सकते हैं।

इस कहानी में असत्य पर सत्य की विजय है।

श्री प्रेमचन्द

जन्मकाल . रचनाकाल

१९३७ वि० १९७२ वि०

[श्री प्रेमचन्द हिन्दी के औपन्यासिक-सम्राट् माने जाते हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा स्कूल और कालेज में हुई। ग्रेजुएट होने के बाद आप प्रांतीय शिक्षा-विभाग में डिप्टीइंस्पेक्टर के पद पर प्रतिष्ठित हुए। किन्तु देश-भक्ति के कारण आपने शिक्षा-विभाग का कार्य छोड़ दिया। आपमें साहित्य के प्रति अनुराग विद्यार्थी अवस्था से ही उत्पन्न हो चुका था और उसी समय से आप कहानियाँ लिखने लगे थे। पहले आप उर्दू में लिखते थे और उर्दू-साहित्य-संसार में आपने अच्छी ख्याति अर्जित करली थी, किन्तु बाद को आप हिन्दी-क्षेत्र में आ गये। श्री प्रेमचन्दजी गाँव के निवासी थे। आपमें ग्रामीण-जीवन की भावनायें कूट-कूट-कर भरी थीं। इसीलिये हिन्दी में जब यह अपनी रचनायें लेकर उपस्थित हुए तो वह ग्रामीण-जीवन तथा देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। आपका हिन्दी में सबसे प्रथम 'सप्त सरोज' नामक कहानी-संग्रह पाठकों के सामने आया और वह अत्यन्त लोक-प्रिय हुआ। इसके बाद आपका प्रथम उपन्यास 'प्रेमाश्रम' हिन्दी-संसार के सामने आया। इसके अनंतर कई कहानी-संग्रह और वृहत् उपन्यासों से हिन्दी-साहित्य के भण्डार की पूर्ति की। 'रंगभूमि' आपका सबसे बड़ा उपन्यास है।

श्री प्रेमचन्दजी की भाषा बड़ी ही लोक-प्रिय और जीवित

है। आपकी मुहावरेदार और सुन्दर भाषा ने आपकी वर्णन-शैली पर चार चाँद लगा दिये। ग्रामीण जीवन,सामाजिक रीति-रिवाज का चित्रण श्री प्रेमचन्द की रचनाओं की प्रधानता है। सामाजिक विचार-धारा से रचनायें प्रवाहित हैं। पिछले वीस वर्ष में देश में जितने सामाजिक या राजनैतिक आन्दोलन हुए, प्रेमचन्दजी की रचनाओं में उनका एक अपूर्व संमिश्रण और चित्रण है। आधु-निक-युग के चोटी के कहानी-कारों में आपकी गणना होती है। लगभग तीन दर्जन पुस्तकों की आपने रचना की है। आपका निधन संवत् १९९३ में हुआ।]

: १ :

पछतावा

[१]

पण्डित दुर्गानाथ जब कालेज से निकले तो उन्हें जीवन-निर्वाह की चिन्ता उपस्थित हुई। वे दयालु और धार्मिक पुरुष थे। इच्छा थी कि ऐसा काम करना चाहिए जिससे अपना जीवन भी साधारणतः सुखपूर्वक व्यतीत हो और दूसरों के साथ भलाई और सदाचरण का भी अवसर मिले। वे सोचने लगे—यदि किसी कार्यालय में क्लार्क बन जाऊँ तो अपना निर्वाह तो हो सकता है, किन्तु सर्वसाधारण से कुछ भी सम्बन्ध न रहेगा। वकालात में प्रविष्ट हो जाऊँ तो दोनों बातें सम्भव हैं; किन्तु अनेकानेक यत्न करने पर भी अपने को पवित्र रखना कठिन होगा। पुलिस-विभाग में दीनपालन और परोपकार के लिए बहुत से अवसर मिलते रहते हैं; किन्तु एक स्वतन्त्र और सद्विचारप्रिय मनुष्य के लिए वहाँ की हवा हानिप्रद है। शासन-विभाग में नियम और नीतियों की भरमार रहती है। कितना ही चाहो पर वहाँ कड़ाई और डॉट-डपट से बचे रहना असम्भव है। इसी प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात्

उन्होंने निश्चय किया, किसी ज़मींदार के यहाँ 'मुख्तार आम' बन जाना चाहिए। वेतन तो अवश्य कम मिलेगा; किंतु दीन खेतिहरों से रात-दिन संबन्ध रहेगा—उनके साथ सद्‌व्यवहार का अवसर मिलेगा। साधारण जीवन-निर्वाह होगा और विचार दृढ़ होंगे।

कुंवर विशालसिंहजी एक सम्पत्तिशाली ज़मींदार थे पंडित दुर्गानाथ ने उनके पास जाकर प्रार्थना की कि मुझे अपनी सेवा में रखकर कृतार्थ कीजिए। कुँवर साहब ने इन्हें सिर से पैर तक देखा और कहा—पण्डितजी, आपको अपने यहाँ रखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, किन्तु आपके योग्य मेरे यहाँ कोई स्थान नहीं दीख पड़ता।

दुर्गानाथ ने कहा—मेरे लिए किसी विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं है। मैं हर एक काम कर सकता हूं। वेतन आप जो कुछ प्रसन्नता-पूर्वक देंगे, मैं स्वीकार करूंगा।

मैंने तो यह संकल्प कर लिया है कि सिवा किसी रईस के और किसी की नौकरी न करूँगा। कुंवर विशालसिंह ने अभिमान से कहा—रईस की नौकरी नौकरी नहीं, राज्य है। मैं अपने चपरासियों को दो रुपया माहवार देता हूं और वे तंजेब के अंगरखे पहनकर निकलते हैं। उनके दरवाज़ों पर घोड़े बंधे हुए हैं। मेरे कारिन्दे पाँच रुपये से अधिक नहीं पाते, किन्तु शादी-विवाह वकीलों के यहाँ करते हैं। न जाने उनकी कमाई में क्या बरकत होती है। बरसों तनख़्वाह का हिसाब नहीं करते। कितने ऐसे हैं जो बिना तनख़्वाह कारिन्दगी या चपरासगीरी को तैयार बैठे हैं। परन्तु अपना यह नियम नहीं। समझ लीजिए, मुख़्तार-आम अपने इलाके में एक बड़े ज़मींदार से भी अधिक रोब रखता है। उसका कारबार, उसकी हुकूमत छोटे-छोटे राजाओं से कम नहीं। जिसे इस नौकरी का चस्का लग गया है, उसके सामने तहसीलदारी झूठी है।

पण्डित दुर्गानाथ ने कुँवर साहब की बातों का समर्थन किया, जैसा कि करना उनके सभ्यतानुसार उचित था। वे दुनियादारी में अभी कच्चे थे, बोले—मुझे अभी तक किसी रईस की नौकरी का चस्का नहीं

लगा है। मैं तो अभी कालेज से निकला आता हूँ। और न मैं इन कारणों से नौकरी करना चाहता हूँ, जिन्हें आपने वर्णन किया। किन्तु इतने कम वेतन में मेरा निर्वाह न होगा। आपके नौकर असामियों का गला दबाते होंगे। मुझसे मरते समय तक ऐसे कार्य न होंगे। यदि सच्चे नौकर का सन्मान निश्चय है, तो मुझे विश्वास है कि बहुत शीघ्र आप मुझसे प्रसन्न हो जायंगे।

कुँवर साहब ने बड़ी दृढ़ता से कहा—हाँ, यह तो निश्चय है कि सत्यवादी मनुष्य का आदर सब कहीं होता है। किन्तु मेरे यहाँ तनख़्वाह नहीं दी जाती।

ज़मीदार के इस प्रतिष्ठा-शून्य उत्तर को सुनकर पण्डितजी कुछ खिन्न हृदय से बोले—तो फिर मजबूरी है। मेरे द्वारा इस समय कुछ कष्ट आपको पहुँचा हो तो क्षमा कीजिएगा। किन्तु मैं आप से यह कह सकता हूं कि ईमानदार आदमी आपको इतना सस्ता न मिलेगा।

कुँवर साहब ने मन में सोचा कि मेरे यहाँ सदा अदालत-कचहरी लगी ही रहती है। सैकड़ों रुपये तो डिगरी-तजवीजों तथा और-और अंगरेज़ी काग़ज़ों के अनुवाद में लग जाते हैं! एक अंगरेज़ी का पूर्ण पण्डित सहज ही में मुझे मिल रहा है। सो भी अधिक तनख़्वाह नहीं देनी पड़ेगी इसे रख लेना ही उचित है। लेकिन पण्डितजी की बात का उत्तर देना आवश्यक था, अतः कहा—महाशय, सत्यवादी मनुष्य को कितना ही कम वेतन दिया जावे, किन्तु वह सत्य को न छोड़ेगा और न अधिक वेतन पाने से बेईमान सच्चा बन सकता है। सचाई का रुपये से कुछ सम्बन्ध नहीं। मैंने ईमानदार कुली देखे हैं और बेईमान बड़े-बड़े धनाढ्य पुरुष। परन्तु अच्छा, आप एक सज्जन पुरुष हैं। आप मेरे यहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहिए। मैं आपको एक इलाके का अधिकारी बना दूँगा और आपका काम देखकर तरक्की भी कर दूँगा।

दुर्गानाथजी ने २०) मासिक पर रहना स्वीकार कर लिया। यहाँ से कोई ढाई मील पर कई गाँवों का एक इलाका चाँदपार के नाम से

विख्यात था। पण्डितजी इलाक़े के कारिन्दा नियत हुए।

[२]

पण्डित दुर्गानाथ ने चाँदपार के इलाक़े में पहुंचकर अपने निवास-स्थान को देखा, तो उन्होंने कुँवर साहब के कथन को बिल्कुल सत्य पाया। यथार्थ में रियासत की नौकरी सुख-सम्पत्ति का घर है। रहने के लिए सुन्दर बंगला है, जिसमें बहुमूल्य बिछौना बिछा हुआ था, सैकड़ों बीघे की सीर, कई नौकर-चाकर, कितने ही चपरासी, सवारी के लिए एक सुन्दर टाँगा, सुख और ठाट बाट के सारे सामान उपस्थित। किन्तु इस प्रकार की सजावट और विलासयुक्त सामग्री देखकर उन्हें उतनी प्रसन्नता न हुई। किन्तु इसी सजे हुए बंगले के चारों ओर किसानों के झोंपड़े थे, फूस के घरों में मिट्टी के बर्तनों के सिवा और सामान ही क्या था। वहाँ के लोगों में वह बँगला कोट के नाम से विख्यात था। लड़के उसे भय की दृष्टि से देखते। उसके चबूतरे पर पैर रखने का उन्हें साहस न पड़ता था। इस दीनता के बीच में यह ऐश्वर्य उनके न्याय से कोसों दूर था। किसानों की यह दशा थी कि सामने आते हुए थरथर काँपते थे। चपरासी लोग उनसे ऐसा बरताव करते थे कि पशुओं के साथ भी वैसा नहीं होता है।

पहले ही दिन सौ किसानों ने पण्डितजी को अनेक प्रकार के पदार्थ भेंट के रूप में उपस्थित किये, किन्तु जब वे सब लौटा दिये गये तो उन्हें बहुत ही आश्चर्य हुआ। किसान प्रसन्न हुए, किन्तु चपरासियों का रक्त उबलने लगा। नाई और कहार ख़िदमत को आये, किन्तु लौटा दिये गये। अहीरों के घरों से दूध से भरा एक मटका आया, वह भी वापस हुआ। तमोली एक ढोली पान लाया, किन्तु वह भी स्वीकार न हुआ। असामी आपस में कहने लगे कि धरमात्मा पुरुष आये हैं। परन्तु चपरासियों को तो ये नई बातें असह्य हो गईं। उन्होंने कहा— हजूर, अगर आपको ये चीज़ें पसन्द न हों तो न लें, मगर रस्म को तो न मिटावें।

अगर कोई दूसरा आदमी यहाँ आवेगा तो उसे नये सिरे से यह रस्म बाँधने में कितनी दिक्कत होगी ? यह सब सुनकर पंडितजी ने केवल यही उत्तर दिया—जिसके सिर पर पड़ेगा वह भुगत लेगा। मुझे इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ? एक चपरासी ने साहस बाँधकर कहा—इन असामियों को आप जितना ग़रीब समझते हैं, उतने ग़रीब ये नहीं हैं। इनका ढंग ही ऐसा है, भेष बनाये रहते हैं। देखने में ऐसे सीधे-सादे मानो बेसींग की गाय हैं, लेकिन सच मानिये, इनमें का एक-एक आदमी हाईकोरट का वकील है।

चपरासियों के इस वाद-विवाद का प्रभाव पंडितजी पर कुछ न हुआ। उन्होंने प्रत्येक गृहस्थ से दयालुता और भाईचारे का आचरण करना आरम्भ किया। सवेरे से आठ बजे तक वह ग़रीबों को बिना दाम औषधियाँ देते, फिर हिसाब-किताब का काम देखते। उनके सदाचरण ने असामियों को मोह लिया। मालगुज़ारी का रुपया, जिसके लिए प्रतिवर्ष कुरकी तथा नीलाम की आवश्यकता होती थी, इस वर्ष एक इशारे पर वसूल हो गया। किसानों ने अपने भाग सराहे और वे मनाने लगे कि हमारे सरकार की दिनों-दिन बढ़ती हो।

[२]

कुँवर विशालसिंह अपनी प्रजा के पालन-पोषण पर बहुत ध्यान रखते थे। वे बीज के लिए अनाज देते और मजूरी और बैलों के लिए रुपये, फसल काटने पर एक का डेढ़ वसूल कर लेते। चाँदपार के कितने ही असामी इनके ऋणी थे। चैत का महीना था। फसल कटकर खलियानों में आ रही थी। खलियानों में से कुछ नाज घर आने लगा था।

इसी अवसर पर कुँवर साहब ने चाँदपारवालों को बुलाया और कहा—हमारा नाज और रुपया बेबाक कर दो। यह चैत का महीना है! जब तक कड़ाई न की जाय, तुम लोग डकार नहीं लेते। इस तरह काम नहीं चलेगा।

बूढ़े मलूका ने कहा—सरकार, भला असामी कभी अपने मालिक

से बेबाक हो सकता है ? कुछ अभी ले लिया जाय, कुछ फिर दे देंगे। हमारी गरदन तो सरकार की मुट्ठी में है।

कुँवर साहब—आज कौड़ी-कौड़ी चुकाकर यहाँ से उठने पाओगे। तुम लोग हमेशा इसी तरह हीला-हवाला किया करते हो।

मलूका (विनय के साथ)—हमारा पेट है, सरकार की रोटियाँ हैं, हमको और क्या चाहिए। जो कुछ उपज है वह सब सरकार ही की है।

कुँवर साहब से मलूका की वाचलता सही न गई। उन्हें इस पर क्रोध आ गया; राजा, रईस ठहरे। उन्होंने बहुत कुछ खरी-खोटी सुनाई और कहा—कोई है ! जरा इस बुड्ढे का कान तो गरम करे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें करता है। उन्होंने तो कदाचित् धमकाने की इच्छा से कहा, किन्तु चपरासियों की आँखों में चाँदपार खटक रहा था। एक तेज़ चपरासी क़ादिर खाँ ने लपककर बूढ़े की गर्दन पकड़ी और ऐसा धक्का दिया कि बेचारा ज़मीन पर जा गिरा। मलूका के दो जवान बेटे वहाँ चुपचाप खड़े थे। बाप की ऐसी दशा देखकर उनका रक्त गर्म हो उठा। दोनों झपटे और क़ादिर खाँ पर टूट पड़े। धमाधम शब्द सुनाई पड़ने लगा। खाँ साहब का पानी उतर गया, साफा अलग जा गिरा। अचकन के टुकड़े-टुकड़े हो गये। किन्तु ज़बान चलती रही।

मलूका ने देखा, बात बिगड़ गई। वह उठा और क़ादिर ख़ाँ को छुड़ाकर अपने लड़कों को गालियाँ देने लगा।

जब लड़कों ने उसको डाँटा, तब दौड़कर कुँवर साहब के चरणों पर गिर पड़ा पर बात यथार्थ में बिगड़ गई थी। बूढ़े के इस विनीत भाव का कुछ प्रभाव न हुआ। कुँवर साहब की आँखों से मानो अंगारे निकल रहे थे। वे बोले—बेईमान, आँखों के सामने से दूर हो जा; नहीं तो खून पी जाऊँगा।

बूढ़े के शरीर में रक्त तो अब वैसा न रहा था, किन्तु कुछ गर्मी अवश्य थी। समझता था कि ये कुछ न्याय करेंगे, परन्तु यह फटकार सुनकर बोला—सरकार बुढ़ापे में आपके दरवाजे पर पानी उतर गया

और तिस पर सरकार हमीं को डाँटते हैं।

कुँवर साहब ने कहा—तुम्हारी इज्जत अभी क्या उतरी है, अब उतरेगी।

दोनों लड़के सरोष बोले—सरकार, अपना रुपया लेंगे कि किसी की इज़्ज़त लेंगे ?

कुँवर साहब (ऐंठकर)—रुपया पीछे लेंगे। पहले देखेंगे कि तुम्हारी इज़्ज़त कितनी है !

[४]

चाँदपार के किसान अपने गाँव पर पहुँचकर पण्डित दुर्गानाथ से अपनी रामकहानी कह ही रहे थे कि कुँवर साहब का दूत पहुँचा और ख़बर दी कि सरकार ने आपको अभी-अभी बुलाया है।

दुर्गानाथ ने असामियों को परितोष दिया और आप घोड़े पर सवार होकर दरबार में हाज़िर हुए।

कुँवर साहब की आँखें लाल थीं। मुख की आकृति भयंकर हो रही थी। कई मुख़्तार और चपरासी बैठे हुए आग पर तेल डाल रहे थे।

पण्डितजी को देखते ही कुँवर साहब बोले—चाँदपारवालों की हरकत आप ने देखी ?

पण्डितजी ने नम्र भाव से कहा—जी हाँ, सुनकर बहुत शोक हुआ। ये तो ऐसे सरकश न थे।

कुँवर साहब—यह आप ही के आगमन का फल है, आप अभी स्कूल के लड़के हैं। आप क्या जानें कि संसार में कैसे रहना होता है। यदि आपका बर्ताव असामियों के साथ ऐसा ही रहा तो फिर मैं ज़मींदारी कर चुका। यह सब आप की करनी है। मैंने इस दरवाज़े पर असामियों को बाँध बाँध कर लटका दिया है और किसी ने चूँ तक नहीं की। आज उनका यह साहस कि मेरे ही आदमी पर हाथ चलायें।

दुर्गानाथ (कुछ दबते हुए)—महाशय, मेरा क्या अपराध ? मैंने तो जब से सुना है तभी से स्वयं सोच में पड़ा हूं।

कुँवर साहब—आपका अपराध नहीं तो किसका है ? आप ही ने

तो इन को सर चढ़ाया, बेगार बन्द कर दी, आप ही उनके साथ भाईचारे का बर्ताव करते हैं, उनके साथ हँसी-मज़ाक करते हैं। ये छोटे आदमी इस बर्ताव की क़द्र क्या जानें। किताबी बातें स्कूलों ही के लिए हैं। दुनिया के व्यवहार का क़ानून दूसरा है। अच्छा, जो हुआ सो हुआ। अब मैं चाहता हूँ कि इन बदमाशों को इस सरकशी का मज़ा चखाया जाय। असामियों को आपने मालगुजारी की रसीदें तो नहीं दी हैं।

दुर्गानाथ (कुछ डरते हुए)—जी नहीं, रसीदें तैयार हैं, केवल आपके हस्ताक्षरों की देर है।

कुँवर साहब (कुछ सन्तुष्ट होकर)—यह बहुत अच्छा हुआ। शकुन अच्छे हैं।

अब आप इन रसीदों को चिरागअली के सिपुर्द कीजिए। इन लोगों पर बक़ाया लगान की नालिश की जायगी, फ़सल नीलाम करा लूँगा। जब भूखों मरेंगे तब सूझेगी। जो रुपया अब तक वसूल हो चुका है, वह बीज और ऋण के खाते में चढ़ा लीजिए। आपको केवल यही गवाही देनी होगी कि यह रुपया मालगुज़ारी के मद में नहीं, क़र्ज़ के मद में वसूल हुआ। बस।

दुर्गानाथ चिन्तित हो गये। सोचने लगे कि क्या यहाँ भी उसी आपत्ति का सामना करना पड़ेगा, जिससे बचने के लिए, इतने सोच-विचार के बाद, इस शान्तिकुटीर को ग्रहण किया था? क्या जान-बूझकर इन ग़रीबों की गर्दन पर छुरी फेरूँ, इसलिए कि मेरी नौकरी बनी रहे? नहीं यह मुझसे न होगा। बोले—क्या मेरी शहादत बिना काम न चलेगा?

कुँवर साहब (क्रोध से)—क्या इतना कहने में भी आपको कोई उज्र है?

दुर्गानाथ (द्विविधा में पड़े हुए)—जी, यों तो मैंने आपका नमक खाया है। आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना मुझे उचित है, किन्तु न्यायालय में मैंने गवाही कभी नहीं दी है। सम्भव है कि यह कार्य मुझसे न हो सके। अतः मुझे तो क्षमा ही कर दिया जाय।

कुँवर साहब (शासन के ढङ्ग से)—यह काम आपको करना पड़ेगा, इसमें आगे-पीछे की गुञ्जाइश नहीं। आग आपने लगाई है, बुझावेगा कौन ?

दुर्गानाथ (दृढ़ता के साथ)—मैं झूठ कदापि नहीं बोल सकता, और न इस प्रकार शहादत दे सकता हूं।

कुँवर साहब—(कोमल शब्दों में)—कृपानिधान, वह झूठ नहीं है। मैंने झूठ का व्यापार नहीं किया। मैं यह नहीं कहता कि आप रुपये का वसूल होना अस्वीकार कर दीजिए। जब असामी ऋणी है, तो मुझे अधिकार है कि चाहे रुपया ऋण के मद में वसूल करूँ या मालगुज़ारी के मद में। यदि इतनी-सी बात को आप झूठ समझते हैं तो आपकी ज़बरदस्ती है। अभी आपने संसार देखा नहीं। ऐसी सचाई के लिए संसार में स्थान नहीं। आप मेरे यहाँ नौकरी कर रहे हैं। इस सेवक-धर्म पर विचार कीजिए। आप शिक्षित और होनहार पुरुष हैं। अभी आपको संसार में बहुत दिन तक रहना है और बहुत काम करना है, अभी से आप यह धर्म और सत्यता धारण करेंगे तो अपने जीवन में आपको आपत्ति और निराशा के सिवा और कुछ प्राप्त न होगा। सत्य-प्रियता अवश्य उत्तम वस्तु है, किन्तु उसकी भी सीमा है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत।' अब अधिक सोच-विचार की आवश्यकता नहीं। यह अवसर ऐसा ही है !

कुँवर साहब पुराने खुर्राट थे। इस फैकनैत से युवक खिलाड़ी हार गया।

[५]

इस घटना के तीसरे दिन चाँदपार के असामियों पर बकाया लगान की नालिश हुई। समन आये। घर-घर उदासी छा गई। समन क्या थे। देवी-देवताओं की मिन्नतें होने लगीं। स्त्रियाँ अपने घरवालों को कोसने लगीं और पुरुष अपने भाग्य को। नियत तारीख़ के दिन गाँव के गँवार कन्धे पर लोटा-डोरी रखे और अँगोछे में चबेना बाँधे कचहरी को चले।

सैकड़ों स्त्रियाँ और बालक रोते हुए उनके पीछे-पीछे जाते थे। मानो अब वे फिर उनसे न मिलेंगे।

पण्डित दुर्गानाथ के लिए ये तीन दिन कठिन परीक्षा के थे; एक ओर कुँवर साहब की प्रभावशालिनी बातें, दूसरी ओर किसानों की हाय-हाय; परन्तु विचार-सागर में तीन दिन तक निमग्न रहने के पश्चात् उन्हें धरती का सहारा मिल गया। उनकी आत्मा ने कहा—यह पहली परीक्षा है। यदि इसमें अनुत्तीर्ण रहे तो फिर आत्मिक दुर्बलता ही हाथ रह जायगी। निदान निश्चय हो गया कि मैं अपने लाभ के लिए गरीबों को हानि न पहुँचाऊँगा।

दस बजे दिन का समय था। न्यायालय के सामने मेला-सा लगा हुआ था। जहाँ-तहाँ श्यामवस्त्राच्छादित देवताओं की पूजा हो रही थी। चाँदपार के किसान झुण्ड के झुण्ड एक पेड़ के नीचे आकर बैठे। उनके कुछ दूर पर कुँवर साहब के मुख़्तार आम, सिपाहियों और गवाहों की भीड़ थी। ये लोग अत्यन्त विनोद में थे। जिस प्रकार मछलियाँ पानी में पहुँचकर कलोलें करती हैं उसी भाँति ये लोग भी आनन्द में चूर थे। कोई पान खा रहा था, कोई हलवाई की दूकान से पूरियों के पत्तल लिये चला आता था। उधर बेचारे किसान पेड़ के नीचे चुपचाप उदास बैठे थे कि आज न जाने क्या होगा, कौन आफ़त आयेगी, भगवान् का भरोसा है। मुक़द्दमे की पेशी हुई। कुँवर साहब की ओर से गवाह गवाही देने लगे, ये असामी बड़े सरकश हैं। जब लगान माँगा जाता है तो लड़ाई-झगड़े पर तैयार हो जाते हैं। अबकी इन्होंने एक कौड़ी भी नहीं दी।

क़ादिर खाँ ने रोकर अपने सिर की चोट दिखाई। सबके पीछे पण्डित दुर्गानाथ की पुकार हुई।

उन्हीं के बयान पर निपटारा था। वकील साहब ने उन्हें खूब तोते की तरह पढ़ा रखा था, किन्तु उनके मुख से पहला वाक्य निकला था कि मजिस्ट्रेट ने उनकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। वकील साहब बगलें

झाँकने लगे। मुख्तार आम ने उनकी ओर घूर कर देखा। अहलमद, पेशकार आदि सब-के-सब उनकी ओर आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगे।

न्यायाधीश ने तीव्र स्वर में कहा--तुम जानते हो कि मजिस्ट्रेट के सामने खड़े हो?

दुर्गानाथ (दृढ़तापूर्वक)—जी हाँ, खूब जानता हूँ।

न्याया०—तुम्हारे ऊपर असत्य भाषण का अभियोग लगाया जा सकता है।

दुर्गानाथ—अवश्य, यदि मेरा कथन झूठा हो।

वकील ने कहा—जान पड़ता है, किसानों के दूध, घी और भेंट आदि ने यह काया-पलट कर दी है। और न्यायाधीश की ओर सार्थक दृष्टि से देखा।

दुर्गानाथ—आपको इन वस्तुओं का अधिक तजुरबा होगा। मुझे तो अपनी रूखी रोटियाँ ही अधिक प्यारी हैं।

न्यायाधीश—तो इन असामियों ने सब रुपया बेबाक़ कर दिया है?

दुर्गानाथ—जी हाँ, इनके ज़िम्मे लगान की एक कौड़ी भी बाक़ी नहीं है।

न्याया०—रसीदें क्यों नहीं दीं?

दुर्गानाथ—मालिक की आज्ञा।

[६]

मजिस्ट्रेट ने नालिशें डिसमिस कर दीं। कुँवर साहब को ज्योंही इस पराजय की ख़बर मिली, उनके कोप की मात्रा सीमा से बाहर हो गई।

उन्होंने पंडित दुर्गानाथ को सैकड़ों कुवाक्य कहे—नमकहराम, विश्वासघाती, दुष्ट। ओह, मैंने उसका कितना आदर किया, किन्तु कुत्ते की पूँछ कहीं सीधी हो सकती है! अन्त में विश्वासघात कर ही गया। यह अच्छा हुआ कि पं० दुर्गानाथ मजिस्ट्रेट का फैसला सुनते ही मुख्तार आम की कुंजियाँ और काग़ज़पत्र सुपुर्द कर चलते हुए। नहीं तो उन्हें

इस कार्य के फल में कुछ दिन हल्दी और गुड़ पीने की आवश्यकता पड़ती।

कुँवर साहब का लेन-देन विशेष अधिक था। चाँदपार बहुत बड़ा इलाक़ा था। वहाँ के असामियों पर कई हज़ार रुपये बाक़ी थे। उन्हें विश्वास हो गया कि अब रुपया डूब जायगा। वसूल की कोई आशा नहीं। इस पंडित ने असामियों को बिलकुल बिगाड़ दिया। अब उन्हें मेरा क्या डर। अपने कारिन्दों और मन्त्रियों से सम्मति ली। उन्होंने भी यही कहा—अब वसूल होने की कोई सूरत नहीं। काग़ज़ात न्यायालय में पेश किये जायँ तो इनकम टैक्स लग जायगा। किन्तु रुपया वसूल होना कठिन है। उज़ुरदारियाँ होंगी। कहीं हिसाब में कोई भूल निकल आई तो रही-सही साख भी जाती रहेगी और दूसरे इलाक़ों का रुपया भी मारा जायगा।

दूसरे दिन कुँवर साहब पूजापाठ से निश्चिन्त हो अपने चौपाल में बैठे, तो क्या देखते हैं कि चाँदपार के असामी झुण्ड के झुण्ड चले आ रहे हैं। उन्हें यह देखकर भय हुआ कि कहीं ये सब कुछ उपद्रव न करें, किन्तु किसी के हाथ में एक छड़ी तक न थी। मलूका आगे-आगे आता था। उसने दूर से झुककर वन्दना की। ठाकुर साहब को ऐसा आश्चर्य हुआ, मानो वे कोई स्वप्न देख रहे हों।

[७]

मलूका ने सामने आकर विनयपूर्वक कहा—सरकार, हम लोगों से जो कुछ भूल-चूक हुई, उसे क्षमा किया जाय। हम लोग सब हजूर के चाकर हैं, सरकार ने हमको पाला-पोसा है। अब भी हमारे ऊपर वही निगाह रहे।

कुँवर साहब का उत्साह बढ़ा। समझे कि पण्डित के चले जाने से इन सबों के होश ठिकाने हुए हैं। अब किसका सहारा लेंगे? उसी खुर्राट ने इन सबों को बहका दिया था। कड़ककर बोले—वे तुम्हारे सहायक पण्डित कहाँ गये? वे आ जाते तो ज़रा उनकी ख़बर ली जाती।

यह सुनकर मलूका की आँखों में आँसू भर आये। वह बोला:—सरकार उनको कुछ न कहें। वे आदमी नहीं, देवता थे। जवानी की सौगन्ध है, जो उन्होंने आपकी कोई निन्दा की हो। वे बेचारे तो हम लोगों को बार-बार समझाते थे कि देखो, मालिक से बिगाड़ करना अच्छी बात नहीं। हमसे एक लोटा पानी के रवादार नहीं हुए। चलते-चलते हम लोगों से कह गये कि मालिक का जो कुछ तुम्हारे ज़िम्मे निकले, चुका देना। आप हमारे मालिक हैं। हमने आपका बहुत खाया-पीया है। अब हमारी यही विनती सरकार से है कि हमारा हिसाब-किताब देखकर जो कुछ हमारे ऊपर निकले, बताया जाय। हम एक-एक कौड़ी चुका देंगे, तब पानी पीयेंगे।

कुँवर साहब सन्न हो गये। इन्हीं रुपयों के लिए कई बार खेत कटवाने पड़े थे। कितनी बार घरों में आग लगवाई। अनेक बार मारपीट की। कैसे-कैसे दण्ड दिये। और आज सब आपसे आप सारा हिसाब-किताब साफ़ करने आये हैं। यह क्या जादू है!

मुख़्तारआम साहब ने काग़ज़ात खोले और असामियों ने अपनी-अपनी पोटलियाँ।

जिसके ज़िम्मे जितना निकला, बे-कान-पूँछ हिलाये उसने सामने रख दिया। देखते-देखते सामने रुपयों का ढेर लग गया। ६००० रुपया बात-की-बात में वसूल हो गया। किसी के ज़िम्मे कुछ बाकी न रहा। यह सत्यता और न्याय की विजय थी। कठोरता और निर्दयता से जो काम कभी न हुआ, वह धर्म और न्याय ने पूरा कर दिखाया।

जब से ये लोग मुकद्दमा जीतकर आये, तभी से इनको रुपया चुकाने की धुन सवार थी। पण्डितजी को वे यथार्थ में देवता समझते थे। रुपया चुका देने के लिए उनकी विशेष आज्ञा थी। किसी ने अन्न बेचा, किसी ने बैल, किसी ने गहने बन्धक रखे, यह सब कुछ सहन किया, परन्तु पण्डितजी की बात न टाली। कुँवर साहब के मन में पण्डितजी के प्रति जो बुरे विचार थे, वे सब मिट गये। उन्होंने सदा

से कठोरता से काम लेना सीखा था। उन्हीं नियमों पर वे चलते थे ! न्याय तथा सत्यता पर उनका विश्वास न था किन्तु आज उन्हें प्रत्यक्ष दीख पड़ा कि सत्यता और कोमलता में बहुत बड़ी शक्ति है।

ये आदमी मेरे हाथ से निकल गये थे। मैं उनका क्या बिगाड़ सकता था ? अवश्य वह पण्डित सच्चा और धर्मात्मा पुरुष था। उसमें दूरदर्शिता न हो, कालज्ञान न हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह निःस्पृह और सच्चा पुरुष था।

[८]

कैसी ही अच्छी वस्तु क्यों न हो, जब तक हमको उसकी आवश्यकता नहीं होती तब तक हमारी दृष्टि में उसका गौरव नहीं होता। हरी दूब भी किसी समय अशर्फियों के मोल बिक जाती है। कुँवर साहब का काम एक निःस्पृह मनुष्य के बिना रुक नहीं सकता था। अतएव पण्डितजी के इस सर्वोत्तम कार्य की प्रशंसा कवि की कविता से अधिक न हुई।

चाँदपार के आदमियों ने तो अपने मालिक को कभी किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाया; किन्तु अन्य इलाकों वाले असामी उसी पुराने ही ढङ्ग से चलते थे। उन इलाकों में रगड़-झगड़ सदैव मची रहती थी। अदालत, मार-पीट, डाँट-डपट सदा लगी रहती रहती थी। किन्तु ये सब तो ज़मींदारी के श्रृङ्गार हैं। बिना इन सब बातों के ज़मींदारी कैसी ? क्या दिन-भर बैठे-बैठे मक्खियाँ मारें ?

कुँवर साहब इसी प्रकार पुराने ढङ्ग से अपना प्रबन्ध सँभालते जाते हैं। कई वर्ष व्यतीत हो गये। कुँवर साहब का कारोबार दिनों-दिन चमकता [illegible] गया। यद्यपि उन्होंने ५ लड़कियों के विवाह बड़ी धूमधाम के साथ किये, परन्तु तिस पर भी उनकी बढ़ती में किसी प्रकार की कमी न हुई। हाँ शारीरिक शक्तियाँ अवश्य कुछ-कुछ ढीली पड़ गईं। बड़ी भारी चिन्ता यही थी कि इस बड़ी सम्पत्ति और ऐश्वर्य का भोगनेवाला कोई उत्पन्न न हुआ; भांजे, भतीजे और नवासे

इस रियासत पर दाँत लगाये हुए थे।

कुँवर साहब का मन अब इस सांसारिक झगड़ों से फिरता जाता था। आख़िर यह रोना-धोना किसके लिए? अब उनके जीवन-नियम में एक परिवर्तन हुआ। द्वार पर कभी-कभी साधु-सन्त धूनी रमाये हुए देख पड़ते। स्वयं भगवद्गीता और विष्णुपुराण पढ़ते। पारलौकिक चिन्ता अब नित्य रहने लगी। परमात्मा की कृपा और साधु-सन्तों के आशीर्वाद से बुढ़ापे में उनके एक लड़का पैदा हुआ। जीवन की आशाएँ सफल हुईं। दुर्भाग्यवश पुत्र के जन्म ही से कुँवर साहब शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे। सदा वैद्यों और डाक्टरों का ताँता लगा रहता था। लेकिन दवाओं का उल्टा प्रभाव पड़ता।

ज्यों-त्यों करके उन्होंने ढाई वर्ष बिताये। अन्त में उनकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। उन्हें मालूम हो गया कि अब संसार से नाता टूट जायगा। अब चिन्ता ने और धर दबाया। यह सारा माल-असबाब, इतनी बड़ी सम्पत्ति किस पर छोड़ जाऊँ? मन की इच्छाएँ मन ही में रह गईं। लड़के का विवाह भी न देख सका। उसकी तोतली बातें सुनने का भी सौभाग्य न हुआ। हाय, अब इस कलेजे के टुकड़े को किसे सौंपूँ, जो इसे अपना पुत्र समझे। लड़के की माँ स्त्री-जाति, न कुछ जाने न समझे। उससे कारबार सँभलना कठिन है। मुख़्तारआम, गुमाश्ते, कारिन्दे कितने हैं, परन्तु सब-के-सब स्वार्थी, विश्वासघाती। एक भी ऐसा पुरुष नहीं जिस पर मेरा विश्वास जमे। कोर्ट-आफ़-वार्ड्स के सुपुर्द करूँ तो वहाँ भी ये ही सब आपत्तियाँ। कोई इधर दबायेगा, कोई उधर। अनाथ बालक को कौन पूछेगा? हाय, मैंने आदमी नहीं पहचाना। मुझे हीरा मिल गया था, मैंने उसे ठीकरा समझा! कैसा सच्चा, कैसा वीर, दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष था। यदि वह कहीं मिल जावे तो इस अनाथ बालक के दिन फिर जायँ। उसके हृदय में करुणा है, दया है। वह एक अनाथ बालक पर तरस खायगा। हा! क्या मुझे उनके दर्शन मिलेंगे! मैं उस देवता के चरण धोकर माथे पर चढ़ाता।

आँसुओं से उनके चरण धोता। वही यदि हाथ लगाये तो यह मेरी डूबती हुई नाव पार लगे।

[६]

ठाकुर साहब की दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई। अब अन्तकाल आ पहुँचा।

उन्हें पण्डित दुर्गानाथ की रट लगी हुई थी। बच्चे का मुँह देखते और कलेजे से एक आह निकल जाती। बार-बार पछताते और हाथ मलते। हाय! उस देवता को कहाँ पाऊँ। जो कोई उसके दर्शन करा दे, आधी जायदाद उसके न्योछावर कर दूँ। प्यारे पण्डित मेरे अपराध क्षमा करो। मैं अन्धा था, अज्ञानी था। अब मेरी बाँह पकड़ो। मुझे डूबने से बचाओ। इस अनाथ बालक पर तरस खाओ। हितार्थी और सम्बन्धियों का समूह सामने खड़ा था। कुँवर साहब ने उसकी ओर अधखुली आँखों से देखा। सच्चा हितैषी कहीं देख न पड़ा। सब के चेहरे पर स्वार्थ की झलक थी। निराशा से आँखें मूँद लीं। उनकी स्त्री फूट-फूटकर रो रही थी। निदान उसे लज्जा त्यागनी पड़ी। वह रोती हुई पास जाकर बोली—प्राणनाथ, मुझे और इस असहाय बालक को किस पर छोड़े जाते हो? कुँवर साहब ने धीरे से कहा—पण्डित दुर्गानाथ पर। वे जल्द आवेंगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनकी भेंट कर दिया। यह मेरी अन्तिम वसीयत है।

"स्वाभिमानी नमकहलाल" नामक कहानी घटना-प्रधान कहानी है जिसमें मुनीम की स्वामि-भक्ति, कार्यचातुरी के साथ-साथ स्वाभिमानी नौकर का स्वाभाविक चित्र है।

अभिमानी नवयुवक सेठ ने पिता के आदेश का उल्लंघन करके स्वामि-भक्त मुनीम का अपमान तो किया किन्तु आपत्ति-काल-संकट-काल में किस प्रकार अनुभवी मुनीम ने अनूठी युक्ति से संकट टाल दिया। यही कहानी का कथानक है।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

जन्मकाल — रचनाकाल

१६४८ वि० — १६७० वि०

(आपका जन्म अम्बाला छावनी (पंजाब) में हुआ। आप बङ्गाली मुहाल, कानपुर में रहते थे। कौशिकजी हिन्दी के उन कहानी-लेखकों में थे जो बड़े ही लोकप्रिय हैं। दैनिक जीवन में घटने वाली साधारण घटनाओं का चित्रण आपकी कहानियों में इतना वास्तविकता-पूर्ण होता है कि जिसका हृदय पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। कई उपन्यास और कहानी-संग्रह आपके अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। द्विवेदी-काल के कहानी-लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है।

'कौशिक' जी की हास्यपूर्ण कहानियाँ लिखने में अपनी एक विशेषता है। 'दुबेजी' की चिट्ठियाँ हिन्दी में आपकी हास्यपूर्ण कहानियों का संग्रह अत्यन्त लोकप्रिय है। आपका हास्य अत्यन्त प्रभावशाली और सुरुचिपूर्ण होता है और प्रायः दैनिक जीवन की आकर्षक घटनाओं तथा समस्याओं को लेकर लिखा जाता है। आपकी भाषा-शैली स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक और मुहावरेदार होती है। आप बड़े हँसमुख, सरल और मिलनसार थे। आपकी सब से बड़ी विशेषता है कहानी-कला में संभाषण की सृष्टि।

: २ :

स्वाभिमानी नमक-हलाल

(१)

बहुत दौड़-धूप और चिकित्सा होने पर भी सेठ छंगामल की दशा न सुधरी। वह प्रतिदिन चिता के निकट पहुँचते जा रहे थे। वृद्ध छंगामल को भी यह भली भाँति विदित हो गया था कि उनकी रोग-शय्या बहुत शीघ्र मृत्यु-शय्या में परिवर्तित होनेवाली है। इसीलिये उन्होंने एक दिन अपने मुनीम मटरूमल को अपने पास बुलाया। उस समय मटरूमल की आयु ६० वर्ष के लगभग थी। मटरूमल के आने पर सेठ छंगामल ने उन्हें अपने पास बिठाकर कहा—"मुनीमजी, मेरा तो अब चल-चलाव लग रहा है, न-जाने किस समय दम निकल जाय। अच्छा है। मुझे संतोष है। हाथ-पैर चलते चला जाऊँ। इससे अधिक और क्या चाहिए। मुझे कोई अभिलाषा नहीं रही—संसार के सभी सुख-दुख देख चुका। कमाया भी खूब—ख़र्च भी खूब किया। भगवान् का दिया सब कुछ है। नाती-पोतों का मुख भी देख लिया। बस, अब तो ईश्वर जितना शीघ्र इस कष्ट से छुड़ावे, अच्छा है।"

वृद्ध मुनीम के चेहरे पर शोकमय गम्भीरता दौड़ गई। कुछ रुँधे हुए कंठ से उन्होंने कहा--"परमात्मा आपको अच्छा कर दे। अभी आपकी उमर ही क्या है? मुझसे दो-चार बरस आप छोटे ही हैं। जब मैं हट्टा-कट्टा बैठा हूँ, तो आपका उठ खड़ा होना कौन आश्चर्य की बात है?"

सेठ छंगामल विषादमय मृदु हास्य करके बोले—"मेरा उठ खड़ा होना बिलकुल असंभव है। मृत्यु आठों पहर मेरी आँखों के सामने खड़ी रहती है; परन्तु न-जाने वह देर क्यों कर रही है?"

मटरूमल—"आप ऐसी बातें मत सोचिए, इनके सोचने से कोई लाभ नहीं। अपने चित्त को प्रसन्न रखिए और यह विश्वास करिए कि आप अवश्य अच्छे हो जायँगे।"

सेठ छुंगामल कुछ अप्रसन्न-से होकर बोले—"मेरी दशा इन आशाओं से कभी नहीं सुधर सकती। ये आशाएँ और विश्वास मुझे मौत के पंजे से नहीं छुड़ा सकते।"

मुनीमजी कुछ कहने ही को थे, परन्तु सेठजी ने उन्हें हाथ के इशारे से रोककर कहा—"मुनीमजी, आप मुझे बहलाने की चेष्टा मत कीजिए। अब लोकाचार का समय नहीं रहा। मैंने आपको जिस काम के लिये बुलाया है; उसे सुनिए और समझिए।"

मुनीमजी—"मुझे जो आज्ञा हो, वह मैं सदैव करने के लिये—"

सेठजी—"इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। आपको मेरे यहाँ रहते हुए २० वर्ष हो चुके हैं। इतने दिनों में मुझे आपके विषय में पूरी जानकारी हासिल हो चुकी है। मुझे जितना विश्वास आप पर है, उतना मुन्नू पर भी नहीं।"

मुनीमजी—"यह सब आपकी कृपा——"

सेठजी—"कृपा नहीं, सच्ची बात है। अच्छा, ज़रा मुन्नू को बुलवाइए।"

मुनीमजी उठकर बाहर चले गए और दस मिनट बाद लौटे। उनके साथ एक नवयुवक था, जिसकी आयु पचीस-छब्बीस वर्ष के लगभग होगी। मुनीमजी तथा नवयुवक दोनों सेठजी के पलंग के पास बैठ गए।

सेठजी कुछ देर तक आँखें बन्द किए पड़े रहे। तत्पश्चात् आँखें खोलकर बोले—"बेटा मुन्नू!"

नवयुवक—हाँ पिताजी!"

सेठजी—"मैं तो अब दो ही चार दिन का मेहमान हूं।"

मुन्नू—"आप भी क्या बातें किया करते हैं। आप अवश्य अच्छे हो जायँगे। कल डाक्टर साहब कहते थे कि अभी कोई बात नहीं बिगड़ी। आप यों ही ऐसी बातें सोच-सोचकर तबियत परेशान किया करते हैं।"

सेठजी ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया आँखें बन्द किए पड़े रहे। कुछ देर बाद उन्होंने आँखें खोलकर कहा—"ख़ैर, जो मैं अच्छा होगया,

तब तो कोई बात ही नहीं, और यदि मैं चल ही बसा——'

चुन्नू—"यह आप क्या——"

सेठजी हाथ के इशारे से पुत्र को रोककर बोले—"पहले मेरी सब बातें सुन लो, फिर जो जी चाहे कह लेना। हाँ, तो यदि मैं चल ही बसा, तो अपने पीछे तुम्हारे लिए अपने स्थान पर मुनीमजी को छोड़ता हूँ।"

चुन्नूमल ने कुछ चौंककर मुनीमजी की ओर देखा। मुनीमजी भी कुछ घबरा-से गए।

सेठजी—"जो वेतन इन्हें अब दिया जाता है, वह सदैव दिए जाना, चाहे यह काम करें, या न करें। जब कोई बड़ा काम करना, या ऐसा काम करना, जो भली भांति तुम्हारी समझ में आया न हो, तब पहले मुनीमजी से सलाह ले लेना और जैसा यह कहें, वैसा ही करना।"

चुन्नूमल आँखें फाड़-फाड़कर मुनीमजी की ओर देखते जाते थे और पिता की बातें सुन रहे थे। मुनीमजी चुपचाप सिर झुकाए बैठे थे।

सेठजी कुछ देर दम लेने के बाद बोले—"बस, तुम्हारे लिये मेरी यह अंतिम आज्ञा है। मुझे और किसी सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। तुम स्वयं समझदार हो; जो उचित समझना, करना।"

सेठ जी ने फिर कुछ देर दम लिया। तत्पश्चात् बोले—"मुनीमजी! आपसे से मुझे कुछ नहीं कहना। मुझे विश्वास है, जो व्यवहार आप मेरे साथ करते आए हैं, वही चुन्नू से भी करते रहेंगे, वरन् उससे अधिक ही करेंगे। कारण, आप इसे सदैव पुत्रवत् समझते रहे हैं।"

मुनीमजी ने सेठजी की बात का कोई उत्तर न दिया। सेठजी ने मुनीमजी की ओर देखा। वृद्ध मुनीम की आँखों से आँसुओं की छोटी-छोटी बूँदें निकलकर उनके झुर्रियाँ पड़े हुए गालों पर बह रही थीं। जान पड़ता है; सेठजी को उन बूँदों ही के द्वारा अपनी बात का उत्तर मिल गया; क्योंकि उन्होंने कुछ प्रसन्न मुख होकर दूसरी ओर करवट बदल ली।

(२)

सेठजी का स्वर्गवास हुए तीन महीने बीत गए। सेठ चुन्नूमल,

सं०

अपने पिता के एक-मात्र पुत्र होने के कारण, सारे कारोबार के मालिक हुए। वृद्ध मुनीम मटरूमल जिस प्रकार बड़े सेठजी का काम करते थे, उसी प्रकार छोटे सेठ चुन्नूमल का काम-काज करने लगे। कार्य-भार हाथ में लेने के पश्चात् दो महीने तक तो चुन्नूमल और मुनीमजीमें खूब पटी; परन्तु फिर क्रमशः चुन्नूमल को मुनीमजी कांटे की तरह खटकने लगे। इसका कारण यह था कि चुन्नूमल नवयुवक होने के कारण संसार की गति से अनभिज्ञ थे। अतएव उल्टी-सीधी, जो मन में आती थी करने के लिये तैयार हो जाते थे परन्तु, मुनीमजी यथाशक्ति उन्हें रोकते थे। चुन्नूमल मुनीमजी की बात मान तो लेते थे, पर उन्हें मुनीमजी का हस्तक्षेप करना बहुत बुरा लगता था। प्रायः मुनीमजी उन्हें डाँट भी दिया करते थे। मुनीमजी की डाँट से चुन्नूमल का गरम खून उबलने लगता था; परन्तु कुछ तो पिता के अंतिम वाक्य याद करके, और कुछ इस कारण से कि वह बाल्यावस्था से मुनीमजी के शासन में रहने के अभ्यस्त थे, उन्हें कुछ अधिक कहने-सुनने और मुनीमजी की बात को न मानने का साहस नहीं होता था।

एक दिन चुन्नूमल ने अपने कुछ मित्रों के साथ बाहर घूमने के लिये जाने की इच्छा की। उन दिनों काम का बड़ा ज़ोर था, अतएव मुनीमजी ने कहा—"इस समय आपका बाहर जाना ठीक नहीं है। पंद्रह-बीस दिन रुक जाइये।-जब काम कुछ हल्का हो, तब चले जाइएगा। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं सारे काम-काज की देख-भाल कर सकूँ। नौकरों के भरोसे इतना बड़ा काम छोड़ देना भी ठीक नहीं।"

चुन्नूमल नाक भौं सिकोड़कर बोले—"मैं क्या नौकरों के पीछे-पीछे घूमा करता हूं। आखिर मेरे रहने पर भी तो वे ही काम करते हैं।"

मुनीमजी—"यह ठीक है, पर मालिक के पास रहने से नौकरों को खटका रहता है और वे कोई गड़बड़ नहीं कर सकते। जब मालिक नहीं होता, तब उनको कोई डर नहीं रहता। वे मन-माना काम करते हैं।"

चुन्नूमल—"यह कुछ नहीं। मैं मित्रों से चलने का पक्का वादा कर चुका हूं, इसलिए अवश्य जाऊँगा।"

मुनीमजी कुछ अप्रसन्न होकर बोले—"मैं आपको इस समय नहीं जाने दूँगा। मित्रों को कहने दीजिए। आदमी को अपना बनता-बिगड़ता देखना चाहिए, मित्र तो कहा ही करते हैं।"

चुन्नूमल मुनीमजी को अप्रसन्न होते देख चुप तो रहे, परन्तु उन्हें उन पर बड़ा क्रोध हो आया।

उसी दिन शाम को मित्रों से साक्षात् होने पर चुन्नूमल ने कहा—"भई, मैं तो इस समय आप लोगों के साथ नहीं चल सकता।"

एक मित्र बोला—"क्यों?"

चुन्नूमल—"मुनीमजी कहते हैं—इस समय काम अधिक है; मेरा जाना ठीक नहीं।"

दूसरा—"और तुम उस बुड्ढे खूसट की बातों में आ गए?"

चुन्नू—"क्या करूँ, अधिक कुछ कहता हूँ, तो वह अप्रसन्न होते हैं।"

पहला—"अप्रसन्न होते हैं, तो होने दो। यह हैं कौन? नौकर लाख कुछ हो, फिर नौकर ही है।"

चुन्नू—"यह तो ठीक है परन्तु——"

तीसरा—"यार, तुम खुद दब्बू हो, नहीं तो एक नौकर की क्या मजाल है, जो मालिक पर दबाव डाले।"

दूसरा—"बात सच्ची तो यह है कि कहने को तो तुम स्वतंत्र हो गए, पर अब भी उतने ही परतंत्र हो जितने बड़े सेठजी के समय में थे। तुम कुछ बबुआ तो हो नहीं, जो अपना बनता-बिगड़ता न समझो।"

तीसरा—"अरे यार यह बुड्ढा बड़ा चलता हुआ है। यह चाहता है कि तुम इसकी मुट्ठी में रहो; जितना पानी पिलावे, उतना ही पियो।"

पहला—"सचमुच तुम्हारे लिए यह बड़ी लज्जा की बात है।"

इस प्रकार सब मित्रों ने मिलकर चुन्नूमल को ऐसा पानी पर चढ़ाया कि उन्होंने यह ठान ली कि चाहे जो कुछ हो, परन्तु अब मुनीमजी के शासन में नहीं रहेंगे।

दूसरे दिन सबेरे चुन्नूमल मित्रों के साथ जाने की तैयारी करने लगे।

मुनीमजी को जो इस बात का पता लगा, तो वह बड़े कुंठित हुए और चुन्नूमल से बोले—"आख़िर आपने मेरा कहना न माना और जाने की तैयारी कर ही दी।"

चुन्नूमल एक तो ख़ुद ही मुनीमजी से तंग आ गए थे, दूसरे मित्रों ने भी उन्हें ख़ूब भर दिया था। वह मुनीमजी का तिरस्कार करने के लिये तैयार होकर बैठे थे, अतएव उन्होंने छूटते ही कहा—"आप होते कौन हैं, जो आपकी बात मानूं? मैं तो केवल इसलिये कि आप पुराने हैं, और पिताजी भी आपसे सलाह-वलाह ले लेने के लिए कह गए थे, आपका आदर करता हूँ, और आप सिर पर ही चढ़े जाते हैं। क्या आप चाहते हैं कि मैं सोलहों आने आप ही के कहने पर चलूँ?"

मुनीमजी इस उत्तर के लिये तैयार न थे। वह चुन्नूमल के मुँह से—उस चुन्नू के मुँह से—जिसे उन्होंने गोद में खिलाया था, जिसे उन्होंने लिखा-पढ़ाकर व्यापार-कला में दक्ष किया था—यह उत्तर सुनकर स्तंभित रह गए। उन्हें कभी स्वप्न में भी इस उत्तर की आशा न थी। बड़ी देर तक वह सन्नाटे में खड़े चुन्नूमल का मुँह ताकते और यह सोचते रहे कि आज वह दिन आ गया, जिसकी कल्पना-मात्र से उनका हृदय दहला करता था। अन्त को वह सँभलकर कुछ नम्र स्वर में बोले—"ख़ैर, आप चाहे जो समझें, और मेरी बातों का चाहे जो अर्थ लगावें, परन्तु मैं जब तक यहाँ बैठा हूं, तब तक उस काम के लिये सदैव बोलता रहूंगा, जिसे अनुचित समझता हूं। मुझसे यह नहीं हो सकता कि चाहे बने या बिगड़े, मैं चुपचाप बैठा-बैठा देखा करूँ।"

चुन्नूमल गम्भीरता-पूर्वक बोले—"यदि आपसे नहीं देखा जाता तो आप अपने घर बैठें।"

चुन्नूमल के इस वाक्य से मुनीमजी का रहा-सहा आशा-सूत्र भी छिन्न-भिन्न हो गया। उनके हृदय पर चोट लगी। इधर आत्मगौरव और स्वाभिमान ने भी हृदय पर दबाव डाला। उन्होंने सिर झुकाकर धीरे से कहा—"अच्छा, यदि आपकी यही इच्छा है, तो ऐसा ही होगा।"

चुन्नूमल मुनीमजी की इस बात से मन-ही-मन प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा—"चलो अच्छा हुआ, 'आँख फूटी, पीर गई'।"

(३)

मुनीमजी ने चुन्नूमल के यहाँ जाना बन्द कर दिया। कुछ लोगों ने, जो मुनीमजी और चुन्नूमल दोनों के शुभचिंतक थे, मुनीमजी को समझाया कि जाने दीजिए, बच्चा है, उसकी बात का बुरा न मानिए। आप अपने स्वामी—बड़े सेठजी—की बात का स्मरण कीजिए। परन्तु मुनीमजी ने इसका उत्तर दिया—"मैं केवल अपने स्वामी की बात पर, उनके पश्चात् भी, उनके घर को अपना घर समझता रहा और सदैव समझता रहता। मैं चुन्नू की सब बातें सह सकता था, परन्तु जब उसने मुझसे साफ़-साफ़ कह दिया कि 'घर बैठो', तब रह क्या गया? मेरा हृदय इसे स्वीकार नहीं करता कि मैं अब वहाँ जाऊँ। जौहर का परखनेवाला जौहरी मेरा स्वामी था; जब वही उठ गया, तो अब किसके पास आऊँ-जाऊँ?"

लोगों ने चुन्नू को भी बहुत समझाया-बुझाया कि तुम अपने दुर्व्यवहार के लिए मुनीमजी से क्षमा माँगो, और उन्हें मना-मनाकर राजी करो। परन्तु, समझानेवालों की अपेक्षा भड़कानेवाले अधिक थे। अतएव चुन्नूमल ने इस बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया। उन्होंने केवल इतना किया कि मुनीमजी को पेंशन के तौर पर कुछ मासिक देना चाहा; परन्तु मुनीमजी ने एक पैसा तक लेना स्वीकार न किया। उन्होंने कह दिया—"मैं कभी चुन्नूमल का नौकर नहीं रहा। जिसका नौकर था, उसका था। मैं चुन्नूमल का एक पैसा भी नहीं ले सकता।"

इस प्रकार चुन्नूमल पर जो थोड़ा बहुत अंकुश था, वह दूर हो गया। अब चुन्नूमल पूर्ण स्वतंत्र हो गए। स्वतंत्र होने से विलासिता-प्रिय चुन्नूमल के ख़र्च बढ़ गए। उन्होंने अपने कारोबार पर भी उचित ध्यान देना छोड़ दिया। सब काम प्रायः नौकरों ही के भरोसे पर होने लगा। साल डेढ़ साल इसी प्रकार काम चला। उनके कारोबार की

इमारत बहुत बड़ी थी और उसकी नींव कमज़ोर हो गई थी। समय के चक्र ने उलट-फेर करके स्थिति का रंग बदल दिया। चुन्नूमल की लापरवाही अन्त में वह दिन ले आई, जिससे सेठ झंगामल का फ़र्म डगमगाने लगा। दो लाख की एक हुंडी का भुगतान था। चुन्नूमल को उसका स्मरण ही न था, न उनके नौकरों और मुनीमों ने ही उस पर कुछ ध्यान रक्खा। जिस समय आदमी हुंडी लेकर दूकान पर आया और उसने हुंडी का भुगतान माँगा, उस समय चुन्नूमल की आँखें खुलीं। उस समय उनके पास केवल पचास हज़ार रुपए ही तैयार थे। इसमें सन्देह नहीं कि यदि दो-चार दिन पहले उन्हें उस भुगतान का ध्यान आ जाता, तो दो लाख क्या चार-छः लाख का भुगतान भी दिया जा सकता था। परन्तु दो-चार दिन पहले तो क्या, चुन्नूमल को एक घण्टा पहले तक भी उसका ध्यान न आया। अब यदि भुगतान तुरन्त नहीं दिया जाता, तो फ़र्म दिवालिया हुआ जाता है। यह एक ऐसी बात थी, जिससे चुन्नूमल-जैसे लापरवाह का भी कलेजा हिल गया। उनके हाथ-पैर फूल गए, आँखों- तले अँधेरा छा गया। उन्होंने तुरन्त दो-चार जगह, जहाँ उनका व्यवहार रहता था, रुपए के लिये आदमी दौड़ाए। परन्तु डेढ़ लाख की रक़म सहज में मिल जाना कोई खेल नहीं था। इसके अतिरिक्त लोग चुन्नूमल की दशा देखकर उनके फ़र्म से खटक गए थे। अतएव जो दे सकते थे, उन्होंने भी इनकार कर दिया। यह स्थिति देखकर चुन्नूमल ने अपने मुनीमों से परामर्श किया कि अब क्या किया जाय। इतना बड़ा फ़र्म दिवालिया हुआ जाता है, सेठ झंगामल की सारी कीर्त्ति धूल में मिली जाती है।

उनके प्रधान मुनीम ने कहा—"हम क्या बतावें ? जैसा आप उचित समझें, करें।"

चुन्नूमल रुआँसे-से होकर बोले—"तुम लोगों की लापरवाही से यह दिन देखना पड़ा। शोक ! यदि भटरूमल होते, तो क्या ऐसी स्थिति होने पाती ? वह दस दिन पहले ही से प्रबन्ध कर रखते।"

मुनीम—"इधर आपने भी काम की ओर बिलकुल ध्यान न रक्खा। हम लोग किस-किस बात का ध्यान रक्खें? एक हो, दो हों, तो ध्यान रह सकता है।"

इधर भुगतान लेनेवाले ने कहा—"क्यों साहब, क्या देर-दार है? हुंडी का भुगतान दीजिए।"

चुन्नूमल भीतर बैठे हुए मुनीमों से झगड़ रहे थे। आदमी ने जाकर उनसे यह बात कही।

चुन्नूमल ने आदमी से कहा—"कह दो, अभी भुगतान होता है, घबराएँ नहीं।"

आदमी को तो यह कहकर टाल दिया, और इधर मुनीम से बोले—"अब क्या किया जाय, कुछ तो बताओ?"

मुनीम बोला—"मेरी समझ में यदि मटरूमलजी आवें, तो वह कोई-न-कोई युक्ति निकाल ही लेंगे।"

चुन्नूमल को भी यह बात जँच गई। बोले—"अच्छा, तो जाओ, उन्हें बुला लाओ।"

मुनीम—"मेरे या किसी और के बुलाए से तो वह कभी न आवेंगे। इस समय यदि आप ही जायँ, तो वह आ सकते हैं।"

चुन्नूमल ने सिर झुकाकर कहा—"मुझे जाना पड़ेगा?"

यद्यपि चुन्नूमल को बहुत कुछ आशा थी कि मटरूमल के आने पर इस विपत्ति से छुटकारा होने को सम्भावना है, परन्तु, फिर भी उनका हृदय मटरूमल के पास जाने में पीछे हटता था।

मुनीम—"आपको जाना ही पड़ेगा। न जाइएगा, तो क्या दिवालिए बनिएगा?"

चुन्नूमल—"अच्छा मैं जाता हूँ। तुम उस आदमी से कह दो कि बड़े मुनीमजी को बुलवाया है, उनके आने पर भुगतान दिया जायगा।"

यह कहकर चुन्नूमल ने उसी समय गाड़ी जुतवाई और मुनीमजी

के मकान की ओर चले। रास्ते में वह सोचते जाते थे कि क्या मुँह लेकर उनके सामने जाता हूँ। क्या वह चले आवेंगे? इसी प्रकार सोचते हुए चुन्नूमल मुनीमजी के मकान पर पहुँचे। जाड़े के दिन थे। शाम हो चुकी थी। मटरूमल दुलाई ओढ़े, बैठे हुक्का पी रहे थे। उनके नौकर ने आकर कहा—"मुनीमजी, सेठ चुन्नूमल आपसे मिलने आए हैं।"

मुनीमजी चौंक पड़े। बोले—"ऐं! चुन्नूमल?"

नौकर—"जी हाँ, चुन्नूमल।"

मुनीमजी कुछ देर तक सन्नाटे में बैठे रहे। तत्पश्चात् बोले—"अच्छा, बुला लाओ।"

चुन्नूमल सकुचाते हुए मटरूमल के सामने आए, और आते ही उनके पैरों पर गिरकर रोने लगे। मटरूमल चुन्नूमल की यह दशा देख पहले बड़े आश्चर्यान्वित हुए; परन्तु साथ ही यह समझकर कि इनपर इस समय कोई बड़ी विपत्ति आई है, इसीलिए इनकी यह दशा है, उन्होंने सप्रेम चुन्नूमल का सिर ऊपर उठाया और कहा—"क्यों बेटा, क्या बात है? इतने घबराए हुए क्यों हो?"

चुन्नूमल ने समस्त वृत्तांत कह सुनाया और फिर कहा—"इस समय आप ही की सहायता से हमारी नाव इस भँवर से निकल सकती है।"

मटरूमल भी यह स्थिति सुनकर घबरा गए और बोले—"इस दशा में मैं क्या कर सकता हूँ? मेरे यहाँ रुपया होता, तो मैं उठा देता। और, जो कुछ है, वह तुम्हारा ही है। तुम्हारा उससे काम चले, तो ले जाओ।"

चुन्नूमल—"मैं रुपया-उपया कुछ नहीं जानता। किसी तरह एक या दो दिन के लिये यह अवसर टाल दीजिए। फिर तो दो लाख क्या, मैं दस लाख का प्रबंध कर लूँगा।"

मटरूमल चुन्नूमल की दशा देख और उनकी विपत्ति का हाल

सुनकर विचार करने में ऐसे मग्न हो गए कि उन्हें यह ध्यान ही न आया कि यह वही चुन्नूमल है, जिसने उन्हें 'घर बैठने' के लिये कह दिया था।

मटरूमल बड़ी देर तक विचार करते रहे। तत्पश्चात् बोले—"अच्छा चलो।" यह कहकर वह केवल दुलाई ओढ़े वैसे ही उठ खड़े हुए। रास्ते में चुन्नूमल मटरूमल की शांतचित्तता पर विस्मित होकर सोचने लगे—"आखिर यह करेंगे क्या? भुगतान तो रुपए से होगा। यह वहाँ क्या करेंगे? यह तो ऐसे निश्चित हैं, मानो कोई बात ही नहीं हुई।"

इसी प्रकार सोचते हुए चुन्नूमल मटरूमल के साथ अपने यहाँ पहुँचे। मटरूमल ने गद्दी पर पहुँचते ही कहा—"भाई, मैं जल्दी में चला आया कुछ कपड़ा भी नहीं पहना। ज़रा एक अँगीठी में कोयले दहकाकर ले आओ। हाथ-पैर ठिठुर गए।" यह कहकर वह गद्दी पर बैठ गए।

चुन्नूमल ने उनके सामने हुँडी रक्खी और बोले—"देखिए, इस हुँडी का भुगतान करना है।"

मटरूमल बोले—"भई, ज़रा उँगलियाँ सीधी कर लूँ, तो देखूँ। जाड़े के मारे उँगलियाँ तो सीधी ही नहीं होतीं।"

कुछ देर बाद दहकती हुई अँगीठी मटरूमल के सामने आई। मटरूमल कुछ देर तक उसमें हाथ सेकने के बाद बोले—"हाँ भई, अब लाओ हुंडी, देखूँ। बुढ़ापे में शरीर की दुर्दशा हो जाती है। मेरे तो हाथ भी अब काँपने लगे।"

यह कहकर उन्होंने हुँडी हाथ में ले ली। उसे आँखों के सामने लाए। हाथों के ठीक नीचे अँगीठी थी। अकस्मात् उनके हाथ थर्राए, और हुँडी हाथ से छूटकर अँगीठी में जा गिरी। जब तक लोगों का ध्यान उसकी ओर जाय-जाय, तब तक वह जलकर राख हो गई।

भुगतान माँगनेवाले के चेहरे का रंग उड़ गया। इधर चुन्नूमल का चेहरा मारे प्रसन्नता के खिल उठा।

मटरूमल किसी के कुछ बोलने के पहले ही बोल उठे—"क्या कहूं, हाथ ऐसे काँपे कि हुंडी सँभली ही नहीं। ख़ैर, कोई चिंता नहीं। (भुगतान लेनेवाले से) तुम हुंडी की नक़ल लाओ, और भुगतान ले जाओ। अभी ले आओ, अभी भुगतान मिल जाय।"

भुगतान लेनेवाला जल-भुनकर बोला—"नक़ल क्या मेरे पास धरी है। जब मँगाई जायगी, तब आवेगी। नक़ल मँगाने में तीन-चार दिन लग जायँगे।"

मटरूमल—"तो भाई, मैं इसे क्या करूँ। समय की बात है, हाथ काँप गया। बुड्ढा आदमी ठहरा। परंतु इससे क्या तुम्हारा भुगतान तो रह ही न जायगा।"

भुगतान लेनेवाला बोला—"भुगतान भला क्या रह सकता है ? पर तीन-चार दिन का झमेला तो लग गया।"

मटरूमल—"अब तो लग ही गया, क्या किया जाय ?"

भुगतान लेनेवाला उठ खड़ा हुआ और बोला—"अच्छा, नक़ल आ जाने पर भुगतान ले जाऊँगा।"

यह कहकर वह चला गया।

उसके जाते ही चुन्नूमल मटरूमल के पैरों पर गिर पड़े, और बोले—"धन्य है आपको। मैंने आपको उस समय नहीं पहचाना था। इसीलिये पिताजी आपका इतना आदर करते थे और अंत समय मुझे यह आज्ञा दे गए थे।"

अब मटरूमल को ध्यान आया कि उनके सामने, वही चुन्नूमल है, जिसने उनसे घर बैठने के लिये कहा था। वह तुरंत उठ खड़े हुए, और बोले—"यह सब ठीक है, पर मुझे तुम्हारे वे घर बैठनेवाले वाक्य अभी भी याद हैं, अतएव मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता।"

यह कहकर और शीघ्रता-पूर्वक जूता पहनकर वह वहाँ से चल खड़े हुए।

हिन्दू-धर्म का गौरव, हिन्दू-संस्कृति का भग्नावशेष चिह्न केवल हिन्दू नारी में रह गया है। धर्मी हो विधर्मी, अतिथिदेव की सेवा कर्तव्य नहीं, धर्म है। 'ममता' में ऐसी हिन्दू महिला की आत्मा का चित्र है। नन्ही-सी कहानी में 'प्रसाद' की लेखनी ने जिस भाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, वह अपूर्व है।

'ममता' के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व कितना स्वाभाविक एवं सच्चा है।

जयशंकर प्रसाद

आपका जन्म सुप्रतिष्ठित वैश्य घराने में हुआ। आपने केवल १२ वर्ष की आयु तक ही स्कूल में शिक्षा पाई। पिता की मृत्यु के कारण फिर घर में ही शिक्षा प्राप्त करते रहे; जिससे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी और फ़ारसी आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाल्यकाल से ही कविता के प्रति बहुत रुचि थी। १५ वर्ष की आयु में दुकान के रद्दी कागज़ों पर कवितायें लिखा करते थे।

आपकी प्रतिभा अलौकिक और सर्वतोमुखी थी। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में आपको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। आप आधुनिक रहस्यवाद के जन्मदाता हैं। आपने प्राचीन इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया है। उपन्यास, नाटक और कहानियों में भारतीय आदर्श यथार्थ परन्तु अनुपम ढंग से प्रतिपादित किया है। आपकी सभी कृतियां भावप्रधान हैं। कहीं २ संस्कृत शब्दों और समस्त पदों का प्रयोग किया है, जिससे भाषा क्लिष्ट और दुर्गम हो जाती है।

निम्नलिखित ग्रन्थ आपकी रचना हैं—आकाशदीप, आंधी, प्रतिध्वनि, छाया, तितली, कंकाल, इरावती, प्रेमपथिक, कामायनी, काननकुसुम, महाराणा का महत्व, आंसू, लहर, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, प्रायश्चित्त का एक घूंट।

: ३ :

ममता

(१)

रोहतास दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गंभीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिये, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिये कुछ अभाव होना असंभव था, परंतु वह विधवा थी,—हिन्दू-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है—तब उसकी विडम्बना का कहाँ अंत था ?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिये क्या करें, वह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गये। ऐसा प्रायः होता, पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिन्ता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आये। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बड़े थालों में कुछ लिये हुए खड़े थे, कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूमकर देखा। मंत्री ने सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गये।

ममता ने पूछा—"यह क्या है पिताजी ?"

"तेरे लिये बेटी! उपहार है।"—कहकर चूड़ामणि ने उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

"इतना स्वर्ण ! यह कहां से आया ?"

"चुप रहो ममता, यह तुम्हारे लिये है।"

"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया? पिताजी! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये। पिताजी! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे?"

"इस पतनोन्मुख प्राचीन सामन्त-वंश का अन्त समीप है, बेटी, किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है; उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिये बेटी!

"हे भगवान्! तब के लिये! विपद् के लिये! इतना आयोजन! परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस! पिताजी, क्या भीख न मिलेगी? क्या कोई हिन्दू भूपृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके? यह असंभव है। फेर दीजिये पिताजी, मैं काँप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अंधा बना रही है।"

"मूर्ख है"—कह कर चूड़ामणि चले गये।

× × ×

दूसरे दिन जब डोलियों का ताँता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण-मन्त्री चूड़ामणि का हृदय धक्-धक् करने लगा। वह अपने को रोक न सका। उसने जाकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा—

"यह महिलाओं का अपमान करना है।"

बात बढ़ गई। तलवारें खिचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा, रानी और कोष सब छली शेरशाह के हाथ पड़े; निकल गई ममता। डोली में भरे हुए पठान-सैनिक दुर्ग भर में फैल गये, पर ममता न मिली।

(२)

काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खँडहर था। भग्न चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म रजनी की चन्द्रिका

में अपने को शीतल कर रही थी।

जहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिये पहले मिले थे उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोंपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते''''।

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मंद प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उसने कपाट बंद करना चाहा। परंतु उस व्यक्ति ने कहा—"माता! मुझे आश्रय चाहिये।"

"तुम कौन हो?"—स्त्री ने पूछा।

"मैं मुगल हूँ। चौसा-युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से!"—स्त्री ने अपने ओंठ काट लिये।

"हाँ माता!"

"परंतु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब, तुम्हारे मुख पर भी है! सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो!"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गये हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ, इतना!"—कहते-कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई! उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी—"सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करने वाले आततायी!"

—घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

स्वस्थ होकर मुगल ने कहा—"माता! तो फिर मैं चला जाऊँ?"

स्त्री विचार कर रही थी—"मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना—का पालन करना चाहिये। परन्तु यहाँ... नहीं-नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परन्तु यह दया तो नहीं...

कर्त्तव्य करना है। तब ?"

मुगल अपनी तलवार टेक कर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—"क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो।"

"छल ! नहीं, तब नहीं स्त्री ! जाता हूँ, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा ? जाता हूँ। भाग्य का खेल है।"

ममता ने मन में कहा—"यहाँ कौन दुर्ग है ! यही झोंपड़ी न; जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा।"—वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—"जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण-कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ ?" मुगल ने चन्द्रमा के मन्द प्रकाश में वह महिमामय मुखमण्डल देखा; उसने मन-ही-मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर, थके पथिक ने झोंपड़ी में विश्राम किया।

× × ×

प्रभात में खण्डहर की सन्धि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रान्त में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोंपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—"मिरजा ! मैं यहाँ हूँ।"

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रान्त गूँज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—"वह स्त्री कहाँ है ? उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिये अधिक सचेष्ट हुई। वह मृग-दाव में चली गई। दिन-भर उसमें से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है—"मिरजा ! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में वहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।"—इसके बाद वे चले गये।

× × ×

चौसा के मुगल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गये। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोंपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण कंकाल खाँसी से गूँज रहा था। ममता की सेवा के लिये गाँव की दो-तीन स्त्रियाँ उसे घेर कर बैठी थीं; क्योंकि वह आजीवन सबके सुख-दुख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोंपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—"मिरज़ा ने जो चित्र बना कर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिये। वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किससे पूछूँ कि एक दिन शाहंशाह हुमायूँ किस छप्पर के नीचे बैठे थे? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई!"

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"उसे बुलाओ।"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुककर कहा—"मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था, या साधारण मुगल; पर एक दिन इसी झोंपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था! मैं आजीवन अपनी झोंपड़ी खोदवाने के डर से भयभीत ही थी! भगवान् ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल, मैं अपने चिर विश्राम गृह में जाती हूँ!"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण-पक्षी अनन्त में उड़ गये।

× × ×

वहाँ एक अष्टकोण मंदिर बना, और उस पर शिलालेख लगाया गया—

"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति में यह गगन-चुम्बी मन्दिर बनाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

न्याय न्याय है। उसके सामने 'रंक-राव' का भेद नहीं। शर्त यह है न्यायाधीश कर्तव्यपरायण एवं निर्भीक हो। 'न्याय-मंत्री' का न्याय राजा को भी अपने न्याय-दण्ड से मुक्त नहीं कर सकता।

'न्याय-मंत्री' न्याय का स्रष्टा भले ही न हो पर न्याय-पालन—उसकी कर्तव्यनिष्ठा का सूचक है।

श्री सुदर्शन

आपका जन्म स्यालकोट में एक मध्यम परिवार में हुआ। आपका असली नाम बदरीनाथ है, परन्तु साहित्य क्षेत्र में आप 'सुदर्शन' नाम से प्रसिद्ध हैं। आपने बी०ए० तक शिक्षा पाई है।

आपका हिन्दी-साहित्य-प्रवेश प्रेमचन्दजी की भांति उर्दू में हुआ है। परन्तु हिन्दी-साहित्य में आकर आपने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है। अपनी मनोरंजक कहानियों, सरल एवं लालित्य-पूर्ण भाषा से, आपने शीघ्र ही हिन्दी-कहानी-पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना लिया है।

आपकी भाषा बड़ी चुस्त है। छोटे वाक्यों में भावों को बड़े सुन्दर रूप से व्यक्त किया है।

निम्न ग्रन्थ आपकी रचना हैं—

सुदर्शन-सुमन, पुष्पलता, सुदर्शन-सुधा, तीर्थयात्रा, पाप-परिणाम, आनरेरी मजिस्ट्रेट, भागवन्ती।

: ४ :

न्याय-मन्त्री

(१)

यह घटना आज से २५,००० वर्ष पहले की है। एक दिन सन्ध्या समय जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्धगया नामक गाँव में एक

परदेशी शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—क्या मुझे रात काटने के लिए स्थान मिल जायगा ?

शिशुपाल अपने गाँव में सबसे अधिक निर्धन थे। घोर दारिद्र्य ने भूखे बैल की नाईं उनकी हड्डियों का पञ्जर निकाल रखा था। उनकी आजीविका थोड़ी-सी भूमि पर चलती थी। परन्तु फिर भी परदेशी को द्वार पर देखकर उनका मुख खिल गया, जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"यह मेरा सौभाग्य है, आइए, पधारिए, अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।"

परदेशी और ब्राह्मण दोनों अन्दर गये। भारतवर्ष में अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेशी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—"आपका पुत्र बड़े काम का मनुष्य है, उसकी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ।"

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक भौं चढ़ाकर उत्तर दिया—"आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।"

परदेशी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—"क्षमा कीजिए, मेरा यह अभिप्राय न था। परन्तु आजकल वे ब्राह्मण कहाँ हैं, अब तो आँखें उनके लिए तरसती हैं।"

शिशुपाल ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।"

"मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।"

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी, जिसको सुनकर परदेशी चकित हो गया। उसकी बातें ऐसी युक्ति-युक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेशी उन पर मुग्ध हो गया। इस छोटे से गाँव में ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्वदर्शी पण्डित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति-युक्त तर्क और शास्त्र-

प्रकृति का इतना विशाल ज्ञान देखकर कहा—"मुझे ख्याल न था कि गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय तो आपको किसी ऊँची पदवी पर नियुक्त कर दें।"

शिशुपाल के शुष्क होठों पर मुस्कराहट आगई। जिसका अन्तःकरण कुढ़ रहा हो जिसके नेत्र आँसू बरसा रहे हों, जिसका मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उसके होठों पर हँसी ऐसी भयानक प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चाँदनी, वरन उससे भी अधिक। शिशुपाल की आँखें नीचे झुक गईं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर ऊपर उठाया और कहा—"आज-कल बड़ा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूँ, मेरा रक्त उबलने लग जाता है।"

परदेशी ने पैंतरा बदलकर उत्तर दिया—"शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।"

"रहने दो, मैं सब जानता हूँ।"

"दोष निकालना सुगम है, परन्तु कुछ करके दिखाना कठिन है।"

शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े हुए पत्ते की नाईं झुलसकर उत्तर दिया—"अवसर मिले तो दिखा दूँ कि न्याय किसे कहते हैं।"

"तो आप अवसर चाहते हैं?"

"हाँ, अवसर चाहता हूँ।"

"फिर तो कोई अन्याय न होगा?"

"सर्वथा न होगा।"

"कोई अपराधी दण्ड से न बचेगा?"

"कदापि नहीं बचेगा।"

परदेशी ने सहज भाव से कहा—"यह बहुत कठिन है।"

"ब्राह्मण के लिए कोई कठिन नहीं। मैं न्याय का डङ्का बजाकर दिखा दूँगा।"

परदेशी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने हँसकर

उत्तर दिया—"यदि मैं अशोक होता तो आपकी मन्शा पूरी कर देता।"

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक सन्देह उठा, परन्तु दूसरे क्षण में वह दूर होगया, जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्र-खण्ड को उड़ा ले जाते हैं।

(२)

दूसरे दिन महाराज अशोक के दरबार में शिशुपाल बुलाया गया। इस समाचार से गाँव भर में आग-सी लग गई। यह वह समय था जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ हुआ था और दमन-नीति का प्रारम्भ था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढ़ा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बड़े-बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिए यह बुलावा मृत्यु का सन्देशा है। उनको पूरा-पूरा विश्वास था कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के सम्बन्धियों पर दुख का पहाड़ टूट पड़ा, और वे फूट-फूट कर रोने लगे। लोगों ने धीरज बँधाना आरम्भ किया। परन्तु शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—"जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी क़ानून का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फाँसी देने लगा। निस्सन्देह राजा ऐसा अन्यायी और अन्धा नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दुख देने लगे।" दुःख और कष्ट की लहरों के मध्य में वे इस प्रकार मौन खड़े थे जिस प्रकार समुद्र की शिला। उन्होंने पुत्र और स्त्री को समझाया, और पाटलिपुत्र की ओर चले।

साँझ हो गई थी, जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुँचे। और जब राज-महल में पहुँचाये गये उस समय तक उनको किसी बात का भय न था, परन्तु राज-महल की चमक-दमक का उन पर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई में पहुँचकर घबरा जाता है। उनके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने

लगे। कभी सोचते, किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, बेधड़क होकर कह दिया करता हूँ, कहीं इसका फल न भुगतना पड़े, कई शत्रु हैं। कभी सोचते, वह परदेशी पता नहीं कौन था ? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो, और यह आग उसी की लगाई हो। तब तो उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की, जो एक अपरिचित से घुल-मिलकर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूं। कभी सोचते, कदाचित् मेरी दरिद्रता की कहानी यहाँ तक पहुँच गई हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है। इस विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परन्तु फिर दूसरे विचार से मुर्झा जाता। इतने में प्रतीहारी ने कहा—"महाराज आ रहे हैं।"

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्राण होंठों तक आगये हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर गई, महाराज अशोक राजकीय ठाठ से कमरे में आये और मुस्कराते हुए बोले—"ब्राह्मण-देवता, मुझे तो आपने पहचान ही लिया होगा।"

शिशुपाल घबराकर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम-रोम काँप रहा था, ये वही थे।

(२)

हाँ, ये वही थे। शिशुपाल काँप कर रह गये। कौन जानता था कि शीतकाल की रात को एक ब्राह्मण के यहां आश्रय लेनेवाला परदेशी भारत का सम्राट् हो सकता है, शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा—"मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं, अन्यथा उतनी स्वतन्त्रता से बातचीत न करता।"

महाराज अशोक बोले—"हूं।"

"परन्तु मैंने कोई बात बढ़ाकर नहीं कही थी।"

"हूँ।"

"मैं प्रमाण दे सकता हूँ।"

महाराज ने कहा—"मैं नहीं चाहता।"

"तो मुझे क्या आज्ञा होती है ?"

"मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।"

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा—"क्या वह सच हो जायगा ?"

महाराज ने कहा—"आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाय तो मैं न्याय का डङ्का बजा दूँगा। मैं आपकी इस विषय में परीक्षा करना चाहता हूँ। आप तैयार हैं ?"

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की, और कहा—"हाँ, यदि महाराज की इच्छा है तो मैं तैयार हूँ।"

"कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।"

"बहुत अच्छा।"

"पाटलिपुत्र की पुलिस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे अधीन होगा, और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा।"

"बहुत अच्छा।"

"यदि कोई घटना होगई अथवा कोई हत्या होगई तो इसका उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा।"

"बहुत अच्छा।"

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अँगूठी उतार कर बोले—"यह राज-मुद्रा है, तुम कल प्रातःकाल की पहली किरण के साथ न्याय-मन्त्री समझे जाओगे। मैं देखूँगा, तुम अपने आपको किस प्रकार सफल-शासक सिद्ध कर सकते हो।"

(४)

एक मास व्यतीत हो गया। न्याय-मन्त्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारों ओर धूम मच गई। शिशुपाल ने नगर पर जादू सा

दिया है, ऐसा प्रतीत होता था। उन्होंने चोर डाकुओं को इस प्रकार वश में कर लिया था, जिस प्रकार सर्प को बीन बजाकर सँपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाज़े तक खुले छोड़ जाते थे, परन्तु किसी की हानि न होती थी। शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था, न सिफ़ारिश सुनता था। वह केवल दण्ड देना जानता था और दण्ड भी शिक्षाप्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।

रात्रि का समय था। आकाश में तारे खेलते थे। एक अमीर ने एक विशाल भवन के द्वार पर दस्तक दी। दरीचे से किसी स्त्री ने सिर निकाल कर पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, दरवाज़ा खोल दो।"

"परन्तु वे यहाँ नहीं हैं।"

"परवा नहीं, तुम दरवाज़ा खोल दो।"

स्त्री ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"मैं नहीं खोलूँगी, तुम इस समय जाओ।"

अमीर ने क्रोध से कहा—"दरवाज़ा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।"

अमीर ने तलवार निकालकर दरवाज़े पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरेदार ने आकर उसका हाथ थाम लिया, और कहा—"क्या कर रहे हो?"

अमीर ने उसकी ओर इस तरह देखा, जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है, और क्रोध से बोला—"तुम कौन हो?"

"मैं पहरेदार हूँ।"

"तुमको किसने नियत किया है?"

"न्याय-मन्त्री ने।"

"मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।"

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—"परन्तु इस समय महाराज अशोक भी आ जायँ तो भी न टलूँगा।"

"क्यों मृत्यु को बुला रहे हो?"

"मैंने जो प्रण किया है उसे पूरा करूँगा।"

"किससे प्रण किया है?"

"न्याय-मन्त्री से।"

"क्या?"

"यही कि जब तक तन में प्राण हैं और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, अपने कर्तव्य से कभी पीछे न हटूँगा।"

अमीर ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हटकर कहा—"आप ग़लती कर रहे हैं, मैं नौकरी पर हूँ।"

परन्तु अमीर ने सुना अनसुना कर दिया, और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली। परन्तु यह अभी नया था, पहले ही वार में गिर गया, और मारा गया। अमीर का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोते उड़ गये। उसकी यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था। परन्तु घाव मर्मस्थान पर लगा। अमीर ने उसकी लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

(५)

प्रात:काल इस घटना की घर-घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलिस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में। राजधानी में आतङ्क छा गया। पुलिस के आदमी चारों ओर दौड़ते फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो। न्याय-मन्त्री ने भी मामले की खोज में दिन-रात एक कर दी। यह घटना उसके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई। घातक की खोज में उन्होंने

कोई कसर उठा न रक्खी, परन्तु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते, तुमने कितने ज़ोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया। न्याय-मन्त्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज कहते, "घातक कब तक पकड़ा जायगा?" न्याय-मन्त्री उत्तर देते, "यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा।" महाराज कुछ दिन ठहरकर फिर पूछते, "हत्यारा पकड़ा गया?" न्याय-मन्त्री कहते, "नहीं।" महाराज का क्रोध भड़क उठता। उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगतीं, बादल की नाईं गरज कर बोलते—"मैं यह 'नहीं' सुनते-सुनते तङ्ग आ गया हूं।"

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा. अन्त में महाराज अशोक ने शिशुपाल को बुलाकर कहा, "तुम्हें तीन दिन की अवधि दी जाती है। यदि इस बीच में घातक न पकड़ा गया तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।"

इसी समाचार से नगर में हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अन्दर-अन्दर शिशुपाल लोक-प्रिय हो चुके थे। उनके न्याय की चारों ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करने लगते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु शिशुपाल का बाल बाँका न हो। शिशुपाल स्वयं बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ। यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया—अब कुछ ही घण्टे बाक़ी थे।

रात्रि का समय था, परन्तु शिशुपाल की आँखों में नींद न थी। वे नगर के एक घने बाज़ार के अन्दर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिड़की खुली, और एक स्त्री ने झाँककर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा, "तुम कौन हो, पहरेदार?"

निराशा के अन्धकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूँ।"

"ज़रा यहीं ठहरो।"

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई, और दीपक लेकर दरवाजे पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई, और बोली—"आज अन्तिम रात्रि है?"

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और उत्तर दिया—"हाँ, अन्तिम।"

शब्द साधारण थे परन्तु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तिल-मिलाकर खड़ी हो गई और बोली—"मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूं।"

शिशुपाल की मृतप्राय देह में प्राण आ गये, धैर्य धरकर बोले—"कहो।"

"रात्रि का समय था। घातक ने इस मकान का दरवाज़ा खट-खटाया। वह यहाँ प्रायः आया करता है।"

"परन्तु क्यों?"

"उसका आचार अच्छा नहीं।"

"फिर आगे।"

"मैंने उत्तर दिया, जिसके पास तुम आये हो, वह यहाँ नहीं है। परन्तु उसने इसे झूठ समझा, और दरवाज़ा तोड़ने को उद्यत हुआ। पहरेदार ने उसे रोका, और उसके हाथ से मारा गया।"

न्याय-मन्त्री ने पूछा—"परन्तु घातक कौन है?"

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की भाँई चारों ओर देखा।

(६)

दूसरे दिन दरबार में तिल धरने को स्थान न था। आज न्याय-मन्त्री का भाग्य-निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते

ही कहा—"न्याय-मन्त्री !"

शिशुपाल सामने आये, इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई अशान्ति न थी।

महाराज ने पूछा —"घातक का पता लगा ?"

न्याय-मन्त्री ने साहसपूर्वक उत्तर दिया—"हाँ, लग गया।"

"पेश करो।"

न्याय-मन्त्री ने सिर झुकाकर सोचा। इस समय उनके हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था। यह उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होंने दृढ़ सङ्कल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—"धनवीर !"

"श्रीमन् !"

"गिरफ्तार कर लो, मैं आज्ञा देता हूँ !"

इशारा महाराज की ओर था, दरबार में निस्तब्धता छा गई। अशोक का चेहरा लाल हो गया मानो वह तपा हुआ ताँबा हो। नेत्रों से अग्निकण निकलने लगे। वे तिलमिलाकर खड़े हो गये और बोले—"अरे ब्राह्मण ! तुझे यहाँ तक साहस हो गया ?"

न्याय-मन्त्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नहीं, और अपने शब्दों को फिर दोहराया—"मैं आज्ञा देता हूँ, गिरफ्तार कर लो।"

धनवीर पुतली की नाईं आगे बढ़ा। दरबारियों की साँस रुक गई। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये। न्याय-मन्त्री ने कहा—"यह घातक है। मेरी अदालत में पेश करो।"

धनवीर ने अशोक को हथकड़ी लगा दी और शिशुपाल की कचहरी की ओर ले चला। वहाँ सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—"अपराधी राज-कुल से है, अतएव अकेला पेश किया जाय।"

महाराज अशोक ने संकेत किया, मन्त्रीगण पीछे हट गये। महाराज उस जँगले में खड़े हो गये, जो अपराधी के लिए नियत किया गया था। छत्रपति नरेश के अपने राज्य में स्वयं उसके नौकर के हाथ यह सम्मान

हो सकता है, इसकी किसी को आशंका न थी। परन्तु शिशुपाल दृढ़ सङ्कल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे। उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया। हाथों को न्याय-रज्जु ने बाँध रक्खा था। वे धीरे से बोले—"तुम पर पहरेदार की हत्या का अपराध है। तुम इसका क्या उत्तर देते हो?"

महाराज अशोक ने होंठ काटकर उत्तर दिया—"वह उद्दण्ड था।"

"तो तुम अपराध स्वीकार करते हो?"

"हाँ, मैंने उसको मारा है। परन्तु मैंने जान-बूझकर नहीं मारा।"

"वह उद्दण्ड नहीं था, मैं उसे चिरकाल से जानता हूँ।"

"वह उद्दण्ड था।"

"तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।"

अशोक के नेत्र लाल हो गये। मन्त्रियों ने तलवारें निकाल लीं। कई आदमी शिशुपाल को गालियाँ देने लगे। कई एक ने यहाँ तक कह दिया, न्याय-मन्त्री पागल हो गया है। एक आवाज़ आई, तुम अपना सिर बचाओ। अशोक ने हाथ उठाकर मौन रहने का सङ्केत किया। चारों ओर फिर वही निस्तब्धता छा गई। न्याय-मन्त्री ने कड़ककर कहा—"आपका क्रोध करना सर्वथा अनुचित है। मैं इस समय न्याय-मन्त्री के आसन पर हूँ, और न्याय करने बैठा हूँ। महाराज अशोक की दी हुई मुद्रा मेरे हाथ में है। यदि किसी ने शोर-शार किया तो मैं उसको अदालत के अपमान के अपराध में गिरफ्तार कर लूँगा।

"अशोक! तुमने एक राज-कर्मचारी का वध किया है। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।"

महाराज ने सिर झुका दिया। इस समय उनके हृदय में महानन्द का समुद्र लहरें मार रहा था। सोचते थे, यह मनुष्य स्वर्ण है, जो अग्नि में पककर कुन्दन हो गया है। कहता था मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा, वह वचन झूठा न था। इसने अपने कहने की लाज रख ली है। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिन पर जातियाँ अभिमान करती हैं और जिन

पर अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाती हैं। उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊँचा किया और उपेक्षापूर्वक कहा—"मैं इस आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।"

न्याय-मन्त्री ने एक मनुष्य को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय-मन्त्री ने खड़े होकर कहा—"महाशयो! यह सच है कि मैं न्याय-मन्त्री हूँ। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है कि एक राजकर्मचारी की हत्या की गई है। उसका दण्ड अवश्यम्भावी है। परन्तु शास्त्रों में राजा को ईश्वर माना गया है। उसे ईश्वर ही दण्ड दे सकता है। यह काम न्याय-मन्त्री की शक्ति के बाहर है। अतएव मैं आज्ञा देता हूँ कि महाराज चेतावनी देकर छोड़ दिये जायँ, और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकाई जाय, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।"

न्याय-मन्त्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध हो गये। वह कहते थे, यह मनुष्य नहीं देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है और न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्तःकरण की आवाज़ सुनता है और उस पर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बाँधकर खड़ा हो जाता। परन्तु इसने उन्हें "तुम" कहकर सम्बोधन किया है, मानो कोई साधारण अपराधी हो। उनके शरीर में रोमाञ्च हो गया। सहस्रों नेत्रों ने आनन्द के आँसू बहाये और सहस्रों जिह्वाओं ने ज़ोर ज़ोर से कहा—"न्याय मन्त्री की जय!"

रात हो गई थी, न्याय-मन्त्री राजमहल में पहुँचे और अशोक के सम्मुख अँगूठी और मुद्रा रखकर बोले—"महाराज, यह अपनी वस्तुएँ सँभालें। मैं अपने गाँव वापस जाऊँगा।"

अशोक ने सम्मानभरी दृष्टि से उनकी तरफ़ देखकर कहा—"आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?"

"परन्तु श्रीमन्..."

अशोक ने बात काटकर कहा—"आपका साहस मैं कभी न भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे कोई दूसरा इस पद के योग्य दिखाई नहीं देता।"

न्याय मन्त्री निरुत्तर हो गये।

•

५

कठोर-कर्तव्य मित्र-अमित्र में भेद नहीं जानता। कभी-कभी अभिन्न-हृदय मित्र को भी गोली का निशाना बनाना पड़ता है। स्वार्थ-साधना के लिए नहीं; बल्कि देश, जाति और राष्ट्र-कल्याण के लिए।

'खूनी' कहानी क्रान्तिकारी—आतंकवादी नवयुवकों की कार्य-प्रणाली की द्योतक है ;जो कठोर कर्तव्य की सूचक भी है।
सं०

चतुरसेन शास्त्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपनी लौह लेखनी और ओज-पूर्ण रचनाओं के कारण हिन्दी-कहानी-साहित्य में उच्च स्थान रखते हैं। आप आयुर्वेद के विद्वान तथा चिकित्सा-शास्त्र के पण्डित हैं। हिन्दी-साहित्य में आपकी कहानियां एक विशेष स्थान रखती हैं। आपकी प्रारंभिक रचनाएं प्रायः गद्यकाव्य के रूप में प्रकट हुई थीं और 'अन्तस्तल' आपकी इसी प्रकार की भावपूर्ण रचना का सुन्दर संग्रह है। शास्त्रीजी की कहानियों में समाज की वास्तविक स्थिति तथा आन्तरिक वातावरण के चित्रण की विशेषता परिपूर्ण है। भाषा में ओज, प्रवाह और आकर्षण इतना व्यापक होता है कि पाठकों पर उसका अत्य-धिक प्रभाव पड़ता है। आपकी कहानियों के कई संग्रह हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध हैं। साथ ही कुछ श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना भी की है। शास्त्रीजी इस समय शहादरा (दिल्ली) में निवास करते हैं और आयुर्वैदिक चिकित्सा करते हैं।

: ५ :

खूनी

उसका नाम मत पूछिये। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस सूरत को आंखों से दूर करने को पागल हुआ फिरता हूं। पर

वह नाम और सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूं, वह निडर है; मैं रोता हूँ, वह हँसता है; मैं मर जाऊँगा, वह अमर है।

मेरी उसकी कभी की जान-पहिचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा थी, दल के सब आदमी आये थे, वह भी आया था। मेरा उसकी ओर कुछ ध्यान न था, वह पास ही खड़ा एक कुत्ते-पिल्ले से किलोल कर रहा था। हमारे दल के नायक ने मेरे पास आकर सहज-गम्भीर स्वर में धीरे से कहा—"इस युवक को अच्छी तरह पहचान लो, इससे तुम्हारा काम पड़ेगा।"

नायक चले गये और मैं युवक की तरफ़ झुका। मैंने समझा, शायद नायक हम दोनों को कोई एक काम सुपुर्द करेगा।

मैंने युवक से हँस कर कहा—"कैसा प्यारा जानवर है!" युवक ने कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मेरे मुख पर डाल कर कहा—"काश! मैं इसका सहोदर भाई होता!" मैं ठठाकर हँस पड़ा। वह मुसकरा कर रह गया। कुछ बातें हुईं। उसी दिन वह मेरा मित्र बन गया।

दिन पर दिन व्यतीत हुये। अछूते प्यार की धाराएँ दोनों हृदयों में उमड़कर एक धार हो गईं, सरल अकपट व्यवहार पर दोनों मुग्ध हो गये। वह मुझे अपने गाँव में ले गया; किसी तरह न माना। गाँव के एक किनारे स्वच्छ अट्टालिका थी। वह गाँव के ज़मींदार का बेटा था—इकलौता बेटा था, हृदय और सूरत का एक-सा। उसकी माँ ने दो दिन में ही मुझे 'बेटा' कहना शुरू किया। अपने होश के दिनों मैंने वहाँ सात दिन माता का स्नेह पाया। फिर चला आया। फिर गया और आया। अब तो बिना उसके मन न लगता था। दोनों के प्राण दोनों में अटक रहे थे। एक दिन उन्मत्त प्रेम के आवेश में उसने कहा था—"किसी अघट घटना से जो हम दोनों में से एक स्त्री बन जाय तो मैं तो तुम से ब्याह ही करलूँ।"

नायक से कई बार पूछा—"क्यों तुमने मुझे उससे मित्रता करने को कहा?" वह सदा यही कहते—"समय पर जानोगे।" गुप्त सभा

की भयङ्कर गम्भीरता सब लोग नहीं जान सकते। नायक मूर्तिमान भयङ्कर गम्भीर थे।

उस दिन भोजन के बाद उसका पत्र मिला। वह मेरी पाकेट में अब भी धरा है। पर किसी को दिखाऊँगा नहीं। उसे देखकर दो साँस सुख से ले लेता हूँ, आँसू बहाकर हलका हो जाता हूँ। किसी पुराने रोगी की जैसे दवा खूराक बन जाती है, मेरी वेदना की भी यह चिट्ठी खूराक बन गई है।

चिट्ठी पढ़ भी न पाया था, नायक ने बुलाया। मैं सामने सरल-स्वभाव खड़ा हो गया। बारहों-प्रधान हाज़िर थे। सन्नाटा भीषण सत्य की तसवीर खींच रहा था। एक-ही मिनट में मैं गम्भीर और दृढ़ हो गया। नायक की मर्म-भेदिनी दृष्टि मेरे नेत्रों में गड़ गई, जैसे दस जोड़े के तीर आँख में घुस गये हों? मैं पलक मारना भूल गया, मानों नेत्रों में आग लग गई हो। पाँच मिनट बीत गये। नायक ने गम्भीर वाणी से कहा—"सावधान! क्या तुम तैयार हो?"

मैं सचमुच तैयार था। मैं चौंका नहीं। आख़िर मैं उसी सभा का परीक्षार्थी सभ्य था। मैंने नियमानुसार सिर झुका दिया। गीता की रक्त-वर्ण रेशमी पोथी धीरे-से मेज़ पर रख दी गई। नियमपूर्वक मैंने दोनों हाथों से उठाकर सिर पर चढ़ा ली।

नायक ने मेरे हाथ से पुस्तक ले ली। क्षण-भर सन्नाटा रहा। नायक ने एकाएक उसका नाम लिया और क्षण-भर में छः-नली पिस्तौल मेज़ पर रख दी।

वह छः नामों का शब्द उस पिस्तौल की छओं गोलियों की तरह मस्तक में घुस गया। पर मैं कम्पित नहीं हुआ। प्रश्न करने और कारण पूछने का निषेध था। नियमपूर्वक मैंने पिस्तौल उठाकर छाती पर रखा और स्थान से हटा।

तरक्षण मैंने यात्रा की। वह स्टेशन पर हाज़िर था। अपने पत्र और मेरे प्रेम-पत्र पर इतना भरोसा उसे था; देखते ही लिपट गया। घर

गये चार दिन रहे। वह क्या करता है, क्या कहता है, मैं देख-सुन नहीं सकता था। शरीर सुन्न हो गया था, आत्मा दृढ़ थी। हृदय धड़क रहा था, पर विचार स्थिर थे।

चौथे दिन प्रातःकाल जलपान करके हम स्टेशन चले। ताँगा नहीं लिया। जंगल में घूमने जाने का विचार था। काव्यों की बढ़-बढ़कर आलोचना होती चलती थी। उस मस्ती में वह मेरे मन की उद्विग्नता भी न देख सका। धूप और खिली। पसीने बह चले। मैंने कहा—"चलो कहीं छाँह में बैठें।" घना कुञ्ज सामने था, वहीं गये। बैठते ही जेब से दो अमरूद निकाल कर उसने कहा—"सिर्फ़ दो ही पके थे। घर के बग़ीचे के हैं। यहीं बैठकर खाने के लिये लाया हूँ। एक तुम्हारा एक मेरा।"

मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खड़ा हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था, उसका ध्यान उसी के स्वाद में था। मैंने धीरे-से पिस्तौल निकाली, घोड़ा चढ़ाया और अकम्पित स्वर में उसका नाम लेकर कहा,—"अमरूद फेंक दो और भगवान् का नाम लो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ। उसने कहा—"बहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो!" मेरा धैर्य छूट रहा था। मैंने दबे कण्ठ से कहा—"अच्छा, खा लो।" खाकर वह खड़ा हो गया, सीधा तनकर। फिर उसने कहा—"अच्छा मारो गोली।" मैंने कहा, "हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली ही मारता हूँ, भगवान् का नाम लो।" उसने हँसी में ही भगवान का नाम लिया और फिर वह नकली गम्भीरता से खड़ा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दबाकर कहा—"ईश्वर की सौगन्ध! हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ!"

मेरी आँखों से वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिलाकर उसने कहा—"मारो।"

एक क्षण-भर भी विलम्ब करने से मैं कर्त्तव्य-विमुख हो जाता। पल-

पल में साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। दोनों गोलियाँ छाती को पार कर गईं।

मैं भागा नहीं। भय से इधर-उधर मैंने देखा भी नहीं। रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी, रक्त साफ़ किया। आँखों में इतनी ही देर में कुछ-का-कुछ हो गया था। देर तक लिये बैठा रहा; जैसे माँ सोते बच्चे को—जागने के भय से—लिये निश्चल बैठी रहती है!

मैं उठा। ईंधन चुना, चिता बनाई, और जलाई। अन्त तक बैठा रहा।

❀ ❀ ❀

बारहों प्रधान हाज़िर थे। उसी स्थान पर आकर मैं खड़ा हुआ। नायक ने नीरव हाथ बढ़ाकर पिस्तौल माँगी। पिस्तौल दे दी। कार्य-सिद्धि का संकेत सम्पूर्ण हुआ। नायक ने खड़े होकर वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा—"तेरहवें प्रधान की कुर्सी हम तुम्हें देते हैं।"

मैंने कहा—"तेरहवें प्रधान की हैसियत से मैं पूछता हूँ कि उसका अपराध मुझे बताया जाय।"

नायक ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया—"वह हमारे हत्या-सम्बन्धी षड्यन्त्रों का विरोधी था, हमें उस पर सरकारी मुख़बिर होने का सन्देह था।" मैं कुछ कहने योग्य न रहा।

नायक ने वैसी ही गम्भीरता से कहा—"नवीन प्रधान की हैसियत से तुम यथेच्छ एक पुरस्कार माँग सकते हो।"

अब मैं रो उठा। मैंने कहा—"मुझे मेरे वचन फेर दो, मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त करो, मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगों में नङ्गी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो, तो तुम अपने को देश-भक्त कहने में संकोच करो। तुम्हारी इन कायरतापूर्ण हत्याओं को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी, सलाही और मित्र नहीं रह सकता, तुम तेरहवीं कुर्सी जला दो।"

नायक को क्रोध न आया। बारहों प्रधान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहे। नायक ने उसी गम्भीर स्वर में कहा—"तुम्हारे इन शब्दों की सजा मौत है, पर नियमानुसार तुम्हें क्षमा पुरस्कार में दी जा सकती है।"

मैं उठकर चला गया।

दस वर्ष व्यतीत हो गये। देश-भर में घूमा, कहीं ठहरा नहीं; भूख, प्यास, विश्राम और शान्ति की इच्छा ही मर गई दीखती है। बस, अब यही पत्र मेरे नेत्र और हृदय की रोशनी है। मेरा वारण्ट निकला था। मन में आया, फाँसी पर जा चढ़ूँ; फिर सोचा, मरते ही उस सजन को भूल जाऊँगा, मरने में अब क्या स्वाद है! जीना चाहता हूँ। किसी तरह सदा जीते रहने की लालसा मन में बसी है, जीते जी ही मैं उसे देख और याद कर सकता हूँ!

'सम्राट् का स्वत्व' में एक राजकुमार की राज-सत्ता पाने की अन्तःप्रवृत्ति का विश्लेषण है जो अपनी इच्छापूर्ति के लिए अपने बड़े भाई का अनिष्ट करने पर उतारू हो जाता है।

राजसत्ता माया-मरीचिका है—मोहिनी शक्ति है जिसके वशीभूत हो भाई भाई का सिर काटने पर कटिबद्ध हो जाता है।

कहानी में मानव के अन्तर्जगत की उदात्त और अनुदात्त प्रवृत्तियों का सुन्दर संघर्ष है।

राय कृष्णदास

आपका जन्म काशी के प्रसिद्ध 'राय' खानदान में हुआ। कहानी-लेखक और भावुक कवि होने के साथ २ आप गद्य-काव्य लेखक भी हैं, आपकी रचनाओं में दार्शनिक विचार और मनोविज्ञान का अनुपम ढंग से वर्णन किया गया है।

भाषा संस्कृत-गर्भित है परन्तु चलते-फिरते और कोमल शब्दों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया है।

आपकी मुख्य रचनायें ये हैं :—

साधना, छाया-पथ, प्रवाल, संलाप, सुधांशु, भावुक।

आप उत्कृष्ट गद्य-काव्य-लेखक एवं कविता, कथोपकथन, कहानी तथा निबंध के उच्च कोटि के स्रष्टा माने जाते हैं एवं पुरातत्व के अच्छे ज्ञाता माने जाते हैं।

: ६ :

सम्राट् का स्वत्व

'एक वह और एक मैं!' किन्तु मेरा कुछ भी नहीं! इस जीवन में कोई पद नहीं! वह समस्त साम्राज्य पर निष्कंटक राज्य करे और मुझे एक-एक कौड़ी के लिए उसका मुँह देखना पड़े! जिस कोख में उसने

नौ महीने बिताये हैं, मैं भी उसी कोख से पैदा हुआ हूँ। जिस स्तन ने शैशव में उसका पालन किया, उसी स्तन से मेरा भी शरीर बढ़ा है। जिस स्नेह से उसका पालन हुआ है, उसी स्नेह का मैं भी पूर्ण अधिकारी था। पिता की जिस गोद में वह बैठकर खेला है, मैंने भी उसी गोद में ऊधम मचाया है। हम दोनों एक ही माता-पिता के समान-स्नेह और वात्सल्य के भागी रहे हैं। हम लोगों की बाल्यावस्था बराबर ही के खेल-कूद और नटखट में बीती है। हम लोगों ने एक ही साथ गुरु के यहाँ एक ही पाठ पढ़ा और याद किया। एक के दोष को दूसरे ने छिपाया। एक के लिए दूसरे ने मार खाई। संग में जंगल-जंगल शिकार के पीछे मारे-मारे फिरे। भूख लगने पर एक कौर में से आधा मैंने खाया, आधा उसने। तब किसी बात का अन्तर न था—एक प्राण दो शरीर थे।

पर आज समय ही तो है। वह सिंहासन पर बैठकर आज्ञा चलाये, मैं उसके सामने भेंट लेकर नत होऊँ। कुत्ते के टुकड़े की तरह जो कुछ वह फेंक दे, सो मेरा। नहीं तो पिता-पितामह की, माता-प्रमाता की, पूर्वजों की इस विशाल सम्पत्ति पर मेरा बाल भर भी अधिकार नहीं। आह! दैव-दुर्विपाक! एक छोटे-से-छोटे कारबारी के इतना भी मेरा अधिकार नहीं। पूर्व-महाराज की मुझ औरस संतान का कोई ठिकाना नहीं। क्यों, इसी संयोगमात्र से कि मैं छोटा हूँ और वह बड़ा। ओह! यदि आज मैं वणिक-पुत्र होता, तो भी पैतृक-सम्पत्ति का आधा भाग उसकी नाक पकड़कर रखा लेता। किन्तु धिक्कार है मेरे क्षत्रिय-कुल में जनमने पर कि मैं दूर्वा की तरह प्रतिक्षण पददलित होकर भी जीवित रहूँ। हरा-भरा रहूँ। 'राजकुमार' कहा जाऊँ—'छोटा महाराज' कहा जाऊँ! खाली घड़े के शब्द की तरह, रिक्त बादल की गरज की तरह कोरा अभिमान कि इधर से उधर टक्कर खाता फिरूँ। शिवनिर्माल्य की तरह किसी अर्थ का न रहूँ। अपने ही घर में, अपने ही माता-पिता के आँगन में अनाथ की तरह ठोकर खाता फिरूँ! विकर के पिंड की तरह फेंका जाऊँ। आह! यह स्थिति असह्य है! मेरा क्षत्रिय-रक्त तो इसे एक

क्षण भर भी सहन नहीं कर सकता। चाहे जैसे हो, इससे छुटकारा पाना होगा। या तो मैं नहीं या यह स्थिति नहीं। देखूँ किसकी जीत होती है।

एक क्षण का तो काम है। एक प्रहार से उसका अन्त होता है। किन्तु क्या कायरों की तरह धोखे में प्रहार। प्रताप के लिए तो यह काम होने का नहीं, यह तो चोरों का काम है! दस्युओं का काम है! हत्यारों की

कुमार प्रतापवर्धन का चेहरा तमतमाया हुआ था। ओंठ फड़क रहे थे। नस-नस में तेज़ी से खून दौड़ रहा था। मारे क्रोध के उसके पैर ठिकाने नहीं पड़ते थे। संध्या का शीतल समीर उसके उष्ण शरीर से टकराकर भस्म-सा हुआ जाता था। कुमार को बोध होता था कि सारा प्रासाद भूकम्प से ग्रस्त है। अनेकानेक प्रेत-पिशाच उसे उखाड़े डालते हैं। क्षितिज में संध्या की लालिमा नहीं है, भयंकर आग लगी हुई है। प्रलयकाल में देर नहीं।

जिस प्रकार ज्वालामुखी के लावा का प्रवाह आँख मूँदकर दौड़ पड़ता है, उसे ध्वस्त करता चलता है, उसी प्रकार राजकुमार का मानसिक आवेश भी अंधा होकर दौड़ रहा था।

'क्यों प्रताप, आज अकेले ही यहाँ क्यों टहल रहे हो?'

अचानक पीयूषवर्षा हो उठी। राजकुमार की ओर उसकी भाभी—महारानी—चली आ रही थी। महारानी का प्रताप पर भाई जैसा प्रेम, मित्र जैसा स्नेह, और पुत्र-जैसा वात्सल्य था। राजकुमार उसके सामने आते ही बालक जैसे हो जाते; पर इस समय वे कुछ न बोले। महारानी ने फिर प्रश्न किया, पर राजकुमार अवाक् थे। कुछ क्रोध के कारण नहीं, महारानी के शब्द कान में पड़ते ही उनके हृदय को भीषण धक्का लगा था। क्रोध से भारी प्रतिघात हुआ था। और राजकुमार के लिए उस प्रतिघात का सहना असम्भव था। यदि प्रतप्त अंगार कीचक शीतल पानी में पड़ जाय तो शतधा फट जाता है। उसी तरह उनके हृदय की दशा हो रही थी। और जब महिषी ने तीसरी बार प्रश्न किया, तब प्रताप

बच्चों की तरह रो पड़ा।

राजमहिषी इस गोरखधन्धे को ज़रा भी न समझ सकीं। उन्होंने फिर कोमलता से पूछा—'बोलो प्रताप, आज क्या बात है—तुम पर ऐसा कौन कष्ट पड़ा कि तुम रो रहे हो, मैंने तो कभी तुम्हारी ऐसी दशा न देखी थी। आज दोनों भाइयों में झगड़ा तो नहीं हुआ ?'

प्रताप के आँसुओं की झड़ी ज्यों-की-त्यों जारी थी। कष्ट से हिच-कियाँ लेते-लेते उसने उत्तर दिया, पर वे समझ न सकीं।

कुमार का हाथ अपने हाथ से थामकर दूसरा हाथ पीठ पर फेरते हुए रानी बोलीं—'शान्त हो, प्रताप ! मेरा हृदय फटा जाता है। बोलो, बताओ, क्या बात है ? चलो तुम्हारा उनका मेल करा दूँ।'

राजमहिषी ने समझा कि इसके सिवा अन्य कोई कारण नहीं। प्रताप ने बड़ी कठिनता से अपने आपको संभालकर कहा—'भला मैं किस बल पर भाई का सामना करूँगा ?'

'प्रताप, ऐसी कटु बात न कहो। तुम्हें स्नेह का बल है, स्वत्व का बल है। इससे बढ़कर कौन बल हो सकता है। बोलो क्या कारण है ? कहो, मेरा हृदय क्रन्दन कर रहा है।'

महारानी का कंठ रुँध गया था, उनकी आँखें भर आई थीं।

'कुछ नहीं भाभी ! मन ही तो है। यों ही कुछ बीते दिनों की याद आ गई। स्नेहमयी माता नहीं, पर तुम तो हो। अब तक मैं निरा बच्चा ही बना हुआ था। बस, यह बचपन की एक तरंग थी।'

'नहीं प्रताप, तुम्हें मेरी शपथ है, मुझे अपना दुःख सुना दो। चाहे तुम्हारा हृदय ऐसा करने से हलका न हो, पर मेरा हृदय अवश्य हलका हो जायगा।'

प्रताप ने उदासीन मुस्कराहट, छूँछी हँसी हँसते हुए कहा—'कुछ नहीं भाभी, कुछ हो तब तो ! सन्ध्या की उदासी, निराली अटारी, मन में कुछ सनक आ गई थी। अब कुछ नहीं। चलिए, आज हम लोग घूमने न चलेंगे ?'

'प्रताप, तुम टाल रहे हो। इसमें मुझे दुःख होता है। आज तक तुमने मुझ से कुछ छिपाया नहीं। जो दुःख-सुख हुआ, सब कहा। आज यह नयी बात क्यों?'

प्रताप फिर बच्चों की तरह सिसकने लगा। उसने महिषी के चरणों की धूलि सिर पर लगा ली।

'भाभी, तुम्हारा बच्चा ही ठहरा, कहूँ नहीं तो काम कैसे चले। कहूँगा सब कहूँगा। पर क्षमा करो। इस समय चित्त ठिकाने नहीं है। फिर पूछ लेना।'

'अच्छा घूमने तो चलो।'

'नहीं, इस समय मुझे अकेले छोड़ दो भाभी।'

'क्यों, तुम्हीं ने अभी प्रस्ताव किया था न?'

'भाभी, वह कपट था।'

'प्रताप, तुम—और मुझ से कपट करो! कुमार, मैं इसे देवताओं की अकृपा के सिवा और क्या कहूँ, अच्छा जाती हूँ। किन्तु देखो, तुम्हें अपना हृदय मेरे सामने खोलना पड़ेगा।'

रानी भी रोती-रोती चली गई। राजकुमार रिक्त दृष्टि से उसका जाना देखता रहा। फिर वह खड़ा न रह सका, वहीं अटारी के मुँडेरे पर बैठ गया।

महारानी ने देखा कि सम्राट् उद्यान में खड़े हैं। रथ तैयार है। उन्होंने भी महारानी को अकेली आते देखा—उसका उतरा हुआ मुँह देखा, लटपटाती गति देखी। हृदय में एक धक्-सी हो गई। पूछ बैठे—

'क्यों, प्रताप कहाँ है? और तुम्हारी यह क्या दशा है?'

'कुछ नहीं'—महिषी ने भर्राये स्वर से कहा—'चलिए घूमने।'

'आज वह न चलेगा? बात क्या है, कुछ कहो तो?'—महाराज ने रूखे स्वर से पूछा।

भृत्यवर्ग स्तम्भित था, चकित था। हाथ बाँधे हुए खड़ा तो था, पर हृदय में काँप रहा था—क्या होने को है?

राजमहिषी ने महाराज के निकट आकर धीरे-धीरे कुछ बातें कीं।

महाराज ने कहा—'यह सब कुछ नहीं, चलो प्रताप से एक बार मैं भी बातें कर लूँ।'

× × ×

प्रताप और महाराज आमने-सामने थे। प्रताप की आँखें भूमि देख रही थीं। किंतु भौंहें तन उठी थीं। महाराज हिमालय की तरह शान्त थे। उन्होंने जिज्ञासा की—

'भाई प्रताप, आज कैसे हो रहे हो?'

किन्तु कुमार ने कोई उत्तर न दिया।

सम्राट् ने उसका हाथ थाम लिया और स्नेह से उसे सहलाने लगे। प्रताप के शरीर में एक झन्नाहट-सी होने लगी, विरक्ति और घृणा से। क्रोध ने कहा कि एक झटका दो और हाथ छुड़ाओ। साहस भी था। पर भ्रातृ-भाव ने यह नौबत न आने दी। तो भी प्रताप ने कोई उत्तर न दिया।

'प्रताप, न बोलोगे? हम लोगों के जन्म-जन्म के स्नेह की तुम्हें शपथ है जो मौन रहो।'

'भैया'—यहीं प्रताप का गला रुँध गया। बड़ी चेष्टा करते हुए उसने कहा—'अब स्नेह नहीं रह गया!'

'क्यों क्या हुआ?'—महाराज इस उत्तर से कुछ चकित हो गये थे।

'भैया—क्षत्रिय-रक्त ने ज़ोर किया और नदी का बाँध टूट गया—' प्रताप ने वयस्क होने के बाद पहली बार भाई से आँखें मिलाकर कहना शुरू किया—'जिस जीवन की कोई हस्ती न हो, वह व्यर्थ है। हम दोनों सगे भाई हैं, तो भी—मैं कोई नहीं और आप चक्रवर्ती! यह कैसे निभ सकता है।'

'तो लो, तुम्हीं शासन चलाओ, प्रताप!'

महाराज ने अपना खड्ग प्रताप की ओर बढ़ा दिया।

प्रताप ने इस स्थिति की स्वप्न में भी कल्पना न की थी। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। महाराज साग्रह उसके हाथ में खड्ग देने लगे और वह पैरों पड़ने के सिवा कुछ न कर सका। तब महाराज ने उसे छाती से लगा लिया और समुद्र के-से गंभीर स्वर में कहने लगे--

'सुनो प्रताप, 'सम्राट्' राष्ट्र की एक व्यक्ति में केन्द्रित सत्ता है। भाई हो अथवा बेटा, कोई उसे बाँट नहीं सकता। यह वैभव देखकर न चकपकाओ। राष्ट्र ने अपनी महत्ता दिखाने के लिये और उससे स्वयं प्रभावान्वित होने के लिये इस वैभव को, इन अधिकारों को राजा से सम्बद्ध किया है। ये अधिकार सम्पत्ति के, विलासिता के, स्वेच्छाचारिता के द्योतक नहीं। यहाँ तराजू की कमाई नहीं है, जो तौलकर जुटती और तौलकर ही बँटती भी है। यह है शक्ति की कमाई; और वह शक्ति क्या है? कच्चे सूत हाथी को बाँध लेते हैं। किन्तु कब? जब एक में मिलकर वे रस्सी बन जाते हैं तब। हाँ, कौटुम्बिक जीवन में यदि हम तुम दो हों तो मैं अवश्य दण्डनीय हूँ! समझे भाई!'

इसी समय राजमहिषी मुस्कराती हुई महाराज से कहने लगीं--
''ना, इसे लक्ष्मी चाहिए लक्ष्मी--आप समझे कैसी--गृह-लक्ष्मी!'

कुमार लज्जित हो गया। फिर वह हँसता हुआ सम्राट् सम्राज्ञी दोनों को सम्बोधित कर कहने लगा--

'क्या समय बिता के ही घूमने चलिएगा?'

'खेल' बाल-क्रीड़ाओं की स्वाभाविक, सरस और मनोरंजक झांकी है।

खेल-खेल में मिट्टी के महल बनाना, बिगाड़ना फिर निर्माण और विसर्जन।

बच्चे यहीं से अपना जीवन निर्माण करते हैं।

आत्मस्पर्द्धा—लड़ना, रूठना, लाड़-प्यार। खेल-खेल में आत्म-विस्मृत हो जाते हैं।

बच्चों की दुनिया स्वर्ग की दुनिया है।

'खेल' में शिशु-संसार का निर्मल दर्पण है।

जैनेन्द्रकुमार

आपका जन्म अलीगढ़ में हुआ। बाल्यावस्था में पिता का देहांत हो गया। लालन-पालन का भार माता पर पड़ गया। महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन में आपने जेल का अनुभव भी प्राप्त किया। आपने थोड़े समय में ही हिन्दी के गल्पसाहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

आपकी भाषा सरल और बड़ी परिमार्जित है। भाषा में स्थानीय शब्दों और मुहावरों का प्रयोग अधिक पाया जाता है। आपने मानव-कमनीय-भावों का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है।

आपको 'परख' उपन्यास पर हिन्दोस्तानी ऐकेडमी प्रयाग से ५००) पारितोषिक मिला था।

निम्न ग्रंथों की आपने रचना की है—

वातायन, फांसी, एक रात, दो चिड़ियां, ध्रुव-यात्रा, कथा-माला, परख, सुनीता, कल्याणी, तपोभूमि।

: ७ :

खेल

मौन-मुग्ध संध्या स्मित प्रकाश से हँस रही थी। उस समय गंगा के निर्जन बालुका-तीर पर एक बालक और एक बालिका अपने को और सारे विश्व को भूल, गंगातट के बालू और पानी को अपना एकमात्र आत्मीय बना, उनसे खिलवाड़ कर रहे थे।

प्रकृति इन निर्दोष परमात्म-खंडों को निःस्तब्ध और निर्निमेष निहार रही थी। बालक कहीं से एक लकड़ी लाकर तट के जल को छुटा-छुट उछाल रहा था। पानी मानों चोट खाकर भी बालक से मित्रता जोड़ने के लिए विह्वल हो रहा था। बालिका अपने एक पैर पर रेत जमाकर और थोप-थोपकर एक भाड़ बना रही थी।

बनाते-बनाते भाड़ से बालिका बोली—देख, ठीक नहीं बना तो मैं तुझे फोड़ दूंगी। फिर बड़े प्यार से थपका-थपकाकर उसे ठीक करने लगी। सोचती जाती थी, इसके ऊपर मैं एक कुटी बनाऊँगी—वह मेरी कुटी होगी। और मनोहर?··· नहीं, वह कुटी में नहीं रहेगा, बाहर खड़ा-खड़ा भाड़ में पत्ते झोंकेगा। जब वह हार जायगा, बहुत कहेगा, हाथ जोड़ेगा, तब मैं उसे अपनी कुटी के भीतर बुला लूँगी।

मनोहर उधर अपने पानी से हिलमिलकर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहाँ अकारण ही उस पर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी, मनोहर कैसा अच्छा है। पर वह दंगई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अब के दंगा करेगा, तो हम उसे कुटी में साझी नहीं करेंगे। साझी होने को कहेगा तो उससे शर्त करवा लेंगे, तब साझी करेंगे।

बालिका सुरबाला सातवें वर्ष में थी। मनोहर कोई दो साल उससे बड़ा था।

बालिका को अचानक ध्यान आया, भाड़ की छत तो गरम होगी। उस पर मनोहर रहेगा कैसे? मेरा क्या, मैं तो रह जाऊँगी; पर मनोहर तो जलेगा। फिर सोचा, उससे मैं कह दूँगी, भाई छत बहुत तप रही है, तुम जलोगे, तुम मत आओ। पर वह अगर नहीं माना? मेरे पास वह बैठने को आया ही तो? मैं कहूँगी भाई ठहरो, मैं ही बाहर आती हूँ।···पर वह मेरे पास आने की ज़िद करेगा क्या?···ज़रूर करेगा, वह बड़ा हठी है। पर मैं उसे आने नहीं दूँगी। बेचारा तपेगा—

भला कुछ ठीक है ! ज़्यादा कहेगा, मैं धक्का दे दूँगी, कहूँगी—अरे जल जायगा मूरख ? यह सोचने पर उसे बड़ा मज़ा-सा आया। पर उसका मुँह सूख गया। उसे मानों सचमुच ही धक्का खाकर मनोहर के गिरने का हास्योत्पादक और करुण दृश्य सत्य की भाँति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिका ने दो एक पक्के हाथ भाड़ पर लगाकर देखा—भाड़ अब बिलकुल बन गया है। माँ जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने नवजात शिशु को बिछौने पर लेटाने को छोड़ती है, वैसे ही सुरबाला ने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींचकर निकाला। इस क्रिया में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पैर पर ही तो भाड़ टिका है। पैर का आश्रय हट जाने पर बेचारा कहीं टूट न पड़े ! पैर साफ़ निकालने पर भाड़ जब ज्यों-का-त्यों टिका रहा, तब बालिका एक बार अह्लाद से नाच उठी।

बालिका अब एकदम ही बेवकूफ़ मनोहर को इस अलौकिक चातुर्य से परिपूर्ण भाड़ के दर्शन के लिए दौड़कर खींच लाने को उद्यत हो गई। मूर्ख लड़का पानी से उलझ रहा है; यहाँ कैसी ज़बरदस्त कारगुज़ारी हुई है—सो नहीं देखता ! ऐसा पक्का भाड़ उसने कहीं देखा भी है !

पर सोचा, अभी नहीं; पहले कुटी तो बना लूँ। यह सोचकर बालिका ने रेत की एक चुटकी ली और बड़े धीरे-से भाड़ के सिर पर छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेत धीरे-धीरे वहाँ छोड़कर सुरबाला ने भाड़ के सिर पर अपनी कुटी तैयार कर ली।

भाड़ तैयार हो गया। पर पड़ोस का भाड़ जब बालिका ने पूरा-पूरा याद किया, तो पता चला कि एक कमी रह गई। धुआँ कहाँ से निकलेगा ? तनिक सोचकर उसने एक सींक टेढ़ी करके उसमें गाड़ दी। बस, ब्रह्माण्ड का सबसे संपूर्ण भाड़ और विश्व की सबसे सुन्दर वस्तु तैयार हो गई।

वह उजड्ड मनोहर को इस अपूर्व कारीगरी का दर्शन करावेगी, पर

अभी ज़रा थोड़ा देख तो ले । सुरबाला मुँह सुबा, आँख स्थिर, इस भाड़-श्रेष्ठ को देख-देखकर विस्मित और पुलकित होने लगी । परमात्मा कहाँ विराजते हैं, कोई इस बाला से पूछे, तो वह बताये, इस भाड़ के जादू में ।

मनोहर अपनी सुरी-सुरो-सुरी की याद कर, पानी से नाता तोड़ और हाथ की लकड़ी को भरपूर जोर से गंगा की धारा में फेंक जब मुड़ा, तब श्री सुरबाला देवी एकटक अपनी परमात्म-लीला के जादू को बूझने और सुलझाने में लगी हुई थीं ।

मनोहर ने बाला की दृष्टि का अनुसरण कर देखा—श्रीमती बिल-कुल अपने भाड़ में अटकी हुई हैं । उसने ज़ोर से कहकहा लगाकर एक लात में भाड़ का काम तमाम कर दिया ।

न-जाने क्या क़िला फ़तह किया हो, ऐसे महत्व से भरा मनोहर चिल्लाया—सुरों रानी !

सुरों रानी मूक खड़ी थीं । उनके मुँह पर जहाँ विशुद्ध रस था, वहाँ अब एक शून्य फैल गया । रानी के सामने एक स्वर्ग सांगोपांग उपस्थित था । वह उन्हीं का अपना रचा हुआ था और वह एक व्यक्ति को अपने साथ लेकर उस स्वर्ग की एक-एक मनोरमता और स्वर्गीयता को दिख-लाना चाहती थीं । हा हंत ! वह व्यक्ति आया और उसने अपनी लात से उसे तोड़-फोड़ डाला ! रानी हमारी बड़ी व्यथा से भर गईं ।

हमारे विद्वान् पाठकों में से कोई होता, तो उस झूठमूठ की मूर्ख रानी को समझाता—यह संसार क्षणभंगुर है । इसमें दुःख क्या और सुख क्या । जो जिससे बनता है, वह उसी में लय हो जाता है । इसमें शोक और उद्वेग की क्या बात है ? यह संसार जल का बुदबुदा है, फूटकर किसी रोज़ जल में ही मिल जायगा । फूट जाने में ही बुदबुदे की सार्थकता है । जो यह नहीं समझते वे दया के पात्र हैं । री, मूर्ख लड़की, तू समझ । सब ब्रह्माण्ड ब्रह्म का है, और उसी में लीन हो जायगा । इससे तू किसलिए व्यर्थ व्यथा सह रही है ? रेत का तेरा भाड़

क्षणिक था, क्षण में लुप्त हो गया, रेत में मिल गया। इस पर खेद मत कर, इससे शिक्षा ले ! जिसने लात मारकर उसे तोड़ा है, वह तो परमात्मा का केवल साधन-मात्र है। परमात्मा तुझे नवीन शिक्षा देना चाहते हैं। लड़की, तू मूर्ख क्यों बनती है ? परमात्मा की इस शिक्षा को समझ और परमात्मा तक पहुँचने का प्रयास कर···आदि आदि।

पर बेचारी बालिका का दुर्भाग्य, कोई विज्ञ धीमान् पंडित तत्त्वोपदेश के लिए उस गंगातट पर नहीं पहुँच सके। हमें तो यह भी संदेह है कि सुरी एक-दम इतनी जड़-मूर्खा है कि यदि कोई परोपकार रत पंडित परमात्म-निर्देश से वहाँ पहुँचकर उपदेश देने भी लगते, तो वह उनकी बात को न सुनती और न समझती। पर, अब तो वहाँ निर्बुद्धि शठ मनोहर के सिवाय कोई नहीं है और मनोहर विश्व-तत्व की एक भी बात नहीं जानता। उसका मन न जाने कैसा हो रहा है। कोई उसे जैसे भीतर ही-भीतर मसोसे डाल रहा है। लेकिन उसने बनकर कहा—'सुरो, दुव पगली, रूठती है !'

सुरबाला वैसे ही खड़ी रही।

'सुरी, रूठती क्यों है ?'

बाला तनिक न हिली।

'सुरी ! सुरी !!···ओ, सुरो !'

अब बनना न हो सका। मनोहर की आवाज़ हठात् कँपी-सी निकली।

सुरबाला अब और मुँह फेरकर खड़ी हो गई। स्वर के इस कंपन का सामना शायद उससे न हो सका।

'सुरो,···ओ सुरिया ! मैं मनोहर हूँ···मनोहर !···मुझे मारती नहीं !'—यह मनोहर ने उसके पीठ पीछे से कहा और ऐसे कहा, जैसे वह यह प्रकट करना चाहता है कि वह रो नहीं रहा है।

'हम नहीं बोलते।'—बालिका से बिना बोले न रहा गया। उसका भाव का स्वर्ग शायद विलीन हो गया और उसका स्थान और बाला की सारी दुनिया का स्थान काँपती हुई मनोहर की आवाज़ ने ले लिया।

वही आवाज़ मानो सब कहीं व्यापक चित्र-सी खिंच गई।

मनोहर ने बड़ा बल लगाकर कहा—'सुरो, मनोहर तेरे पीछे खड़ा है, वह बड़ा ख़राब है। बोल मत, पर उस पर रेत क्यों नहीं फेंक देती, मार क्यों नहीं देती! उसे एक थप्पड़ लगा—वह अब कभी कसूर नहीं करेगा।'

'बाला ने कड़ककर कहा—'चुप रहो जी!'

'चुप रहता हूँ; पर मुझे देखोगी भी नहीं?'

'नहीं देखते।'

'अच्छा, मत देखो। मत ही देखो। मैं अब कभी सामने न आऊँगा, मैं इसी लायक हूँ।'

'कह दिया तुमसे, चुप रहो। हम नहीं बोलते।'

बालिका में व्यथा और क्रोध कभी का ख़त्म हो चुका था। वह तो जाने कहाँ उड़कर खो चुका था। यह कुछ और ही भाव था। यह एक उल्लास था जो व्याज कोप का रूप धर रहा था। दूसरे शब्दों में वह स्त्रीत्व था।

मनोहर बोला—'लो सुरी, मैं नहीं बोलता। मैं बैठ जाता हूँ। यहीं बैठा रहूँगा। तुम जब तक न कहोगी, न उठूँगा, न बोलूँगा।'

मनोहर चुप बैठ गया। कुछ क्षण बाद हारकर सुरबाला बोली—'हमारा भाड़ क्यों तोड़ा जी? हमारा भाड़ बना के दो!'

'लो, अभी लो।'

'हम वैसा ही लेंगे।'

'वैसा ही लो, उससे भी अच्छा।'

'उस पै हमारी कुटी थी, उस पै धुएँ का रास्ता था।'

'लो, सब लो। तुम बताती जाओ, मैं बनाता जाऊँ।'

'हम नहीं बतायेंगे। तुमने क्यों तोड़ा? तुमने तोड़ा, तुम्हीं बनाओ'

'अच्छा! पर तुम इधर देखो तो।'

'हम नहीं देखते, पहले भाड़ बना के दो।'

मनोहर ने एक भाड़ बनाकर तैयार किया। कहा—'लो, भाड़ बन गया।'

'बन गया!'

'हाँ!'

'धुएँ का रास्ता बनाया? कुटी बनाई?'

'सो कैसे बनाऊँ—बताओ तो।'

'पहले बनाओ, तब बताऊँगी।'

भाड़ के सिर पर एक सींक लगाकर और एक पत्ते की ओट लगाकर कहा—'बना दिया।'

तुरन्त मुड़कर सुरबाला ने कहा—'अच्छा दिखाओ!'

'सींक ठीक नहीं लगी जी, पत्ता ऐसा लगेगा?'—आदि-आदि संशोधन कर चुकने पर मनोहर को हुक्म हुआ—

'थोड़ा पानी लाओ, भाड़ के सिर पर डालेंगे।'

मनोहर पानी लाया।

गंगाजल से करपात्रों द्वारा वह भाड़ का अभिषेक करना ही चाहता था कि सुरो रानी ने एक लात से भाड़ के सिर को चकनाचूर कर दिया।

सुरबाला रानी हँसी से नाच उठीं! मनोहर उत्फुल्लता से कहकहा लगाने लगा। उस निर्जन प्रांत में वह निर्मल शिशुहास्य-रव लहरें लेता हुआ व्याप्त हो गया। सूरज महाराज बालकों जैसे-लाल-लाल मुँह से गुलाबी हँसी हँस रहे थे। गंगा मानो जान-बूझकर किलकारियाँ भर रही थी। और—और वे लंबे ऊँचे दिग्गज पेड़, दार्शनिक पंडितों की भाँति, सब हास्य की सार शून्यता पर मन-ही-मन गंभीर तत्त्वावलोकन कर, कहीं हँसी में भूले मूर्खों पर आँसू बहाना तो नहीं चाह रहे थे वे बेचारे!

मानव सभ्यता के प्राचीन इतिहास में दासता-युग (गुलामी-प्रथा) रहा है। यह हमारी सभ्यता के विकास का दूसरा युग था जब कि सत्ताधारी स्वामी गुलामों को बेच सकते थे, मार-पीट और उसकी हत्या कर देना भी अपराध नहीं समझते थे क्योंकि गुलाम उसकी पूँजी था। गुलामों को नागरिक अधिकारों (वोट, संभाषण, संगठन आदि) से वंचित रक्खा जाता था क्योंकि उस काल के महान् दार्शनिकों का विचार था कि—"गुलामों की आत्मा नहीं होती।"

'बचपन' में गुलाम की आन्तरिक भावनाओं का स्पष्टीकरण सुन्दरता से अंकित हुआ है।

इस कहानी में बच्चे का भोलापन, सरलता, भावुकता और विस्मृति का स्वाभाविक चित्रण है।

बालक-जगत में स्वामी, दास, अमीर, ग़रीब का कोई

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

आप का जन्म पश्चिमोत्तर पंजाब के एक गांव कोट अद्दू में हुआ। शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार में प्राप्त की।

चन्द्रगुप्तजी सन् १९२८ से कहानियां लिख रहे हैं। अबतक चन्द्र कला, भय का राज्य, अमावस, नाम से तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

आप की भाषा बहुत सरल, चित्रण सजीव, व्यंगात्मक और अन्त बहुत मर्मस्पर्शी होता है।

कथाशिल्पी होने के सिवा आप एक सुलझे हुए विचारों के आलोचक और अच्छे पत्रकार भी हैं। कथा-साहित्य में चन्द्रगुप्त-जी का विशेष स्थान है।

: ८ :

बचपन

(१)

आज बहुत दिनों के बाद फ़ारस की चिराग़ नामक घाटी के सूखे नाले में मटियाला पानी बहता हुआ दिखाई दिया था। हाशिम नींद से जाग कर खेतों में काम करने के लिए जा रहा था। बहता पानी देख कर उसका दिल खुश हो गया। उसके जी में आया, चलो आज काम में थोड़ी देर ही सही। जमादार पूछेगा तो कोई छोटा-मोटा बहाना गढ़ दूँगा। जरा फुर्ती करके दिन भर का काम पूरा अवश्य कर दूँगा,

ताकि मालिक को नुक्स पकड़ने का मौका न मिले। नाले के दोनों किनारों पर शीशम के वृक्ष दो क़तारों में बोये गए थे। ये पेड़ नाले पर घनी छाया किये हुए थे। इसी छाया में हाशिम नाले के अन्दर पैर लटका कर बैठ गया। ठंडी हवा चल रही थी। शीशम के पेड़ों पर बने घोंसलों में चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। फ़ारस की नंगी धूप में दिन-रात शारीरिक परिश्रम करनेवाला हाशिम इस ठंडे स्थान पर बैठ कर मग्न हो गया। थोड़ी देर के मानो वह यह भूल-सा गया कि वह एक गुलाम है।

हाशिम आफ़ताबख़ान नाम के एक बहुत बड़े और कुलीन भूमिपति का गुलाम था। उसके शरीर और माया पर आफ़ताबख़ान को क़ानूनी हक़ प्राप्त था। आफ़ताबख़ान सम्पूर्ण चिराग़ घाटी का मालिक था। उन दिनों वह फ़ारस के सबसे अधिक शक्तिशाली पुरुषों में समझा जाता था। उसके पास सैकड़ों गुलाम थे। इन गुलामों का सर्वस्व उसी का था। वह चाहता तो इन गुलामों को भूखा रख सकता था, कोड़े लगा सकता था और कभी दिमाग़ बिगड़ जाने पर इनका खून भी कर सकता था। हाशिम उसका एक मामूली गुलाम था। आफ़ताबख़ान ने उसे खेती-बाड़ी के काम पर नियुक्त कर रक्खा था। हाशिम गुलाम होते हुए भी नेक था। वह स्वभाव से भोला, खुशमिज़ाज, मेहनती और धर्मभीरु था। अपने मालिक को यथाशक्ति खुश रखना वह अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझता था।

हाशिम नाले के किनारे चुपचाप नहीं बैठा था, वह धीरे-धीरे मग्न होकर कुछ गुनगुना रहा था और इसके साथ ही आसपास से सूखे पत्ते बटोर कर उन्हें एक-एक करके नाले के बहते हुए पानी में डाल रहा था। पानी के तीव्र प्रवाह में पड़ कर जो पत्ता अपने पहले साथियों से आगे निकल जाता था, उसे देख हाशिम खुश हो उठता, और जो पत्ता उस साधारण से नाले की छोटी-छोटी भँवरगेरियों में पड़ कर पानी में ऊब-डूब करने लगता, उसकी ओर वह बड़ी करुणा और सहानुभूति के

साथ देखता था।

हाशिम अपनी इसी धुन में लगा था कि अचानक अपने पीछे से उसे एक अत्यधिक कोमल और मधुर हँसी सुनाई दी। हाशिम घबरा कर उठ खड़ा हुआ। उसकी घबराहट को देखकर वह हँसी और भी अधिक मधुर हो उठी। हाशिम ने देखा, उससे कुछ ऊँचाई पर खड़ा होकर उजले कपड़े पहने हुए, एक तेजस्वी और सुन्दर बालक ज़ोर-ज़ोर से हँस रहा है। उसकी उमर ५-६ बरस से अधिक नहीं होगी। हाशिम पहिचान गया कि वह मालिक का इकलौता पुत्र गुलशन है। मालूम होता था कि वह अभी-अभी कहीं दूर से भागता हुआ यहाँ आया है। परिश्रम के कारण गुलशन के शुभ्र गालों से ललाई मानों टपकने लगी थी। माथे पर पसीने के छोटे-छोटे बिन्दु दिखाई दे रहे थे। हवा के कारण उसके सुनहले बाल लटों में विभक्त होकर इधर-उधर उड़ रहे थे। उस छोटे बालक का यह स्वरूप अत्यधिक हृदयग्राही था। हाशिम इस देवोपम रूप को देख कर मुग्ध हो गया। बड़े आनन्द से कुछ क्षणों तक, उस हँस रहे बालक को देखने के उपरान्त उसने अपनी आँखें नीचे कर लीं।

गुलशन के हाथ में एक बड़ासा कागज़ था। इस कागज़ पर स्याही से कुछ रेखाएँ पड़ी हुई थीं। जिन दिनों की बात हम कर रहे हैं उन दिनों एक बड़े आकार का कागज़ कोई मामूली चीज़ नहीं था। प्रतीत होता है कि इस कागज़ को गुलशन ज़बरदस्ती अपने पिता से छीन लाया था। इस कागज़ पर किसी नई इमारत का नक़्शा बनाया जा रहा था। पिता से हाथ छुड़ा कर, यह कागज़ लिये हुए वह इतनी दूर भाग आने में सफल हुआ था, सम्भवतः उसकी इस बेहद खुशी का यही कारण था। हाशिम को घबराया हुआ देखकर बालक और भी अधिक उच्च स्वर से हँस पड़ा। उसने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है!"

बूढ़े गुलाम ने बड़ी संजीदगी से कहा—"हाशिम"

गुलशन ने कहा—"अच्छा, काका हाशिम ! मुझे इस कागज़ की एक नाव बना दो।"

'काका' का सम्बोधन सुनकर हाशिम गद्‌गद् हो गया। उसने गुलशन के हाथ से वह कागज़ ले लिया। हाशिम के हाथों में हुनर था। उसने शीशम की सूखी लकड़ियाँ जमा करके उन्हें अपने बसूले से छील-छाल कर बराबर कर लिया। अपने कुरते का एक भाग फाड़ कर उसने कई रस्सियाँ तैयार कीं। हाशिम को अपने कपड़े फाड़ते हुए देखकर अबोध बालक ने बड़ी सहानुभूति से कहा—"हुश, यह क्या करते हो। फिर पहनोगे क्या ?"

असीम प्रसन्नता से हाशिम को रोमांच हो आया। उसने कोई जवाब नहीं दिया। वह केवल और भी अधिक मनोयोग से बालक की नाव बनाने लगा। २०—२२ मिनटों में उसने नाव का खोल तैयार करके उसे कागज़ से मढ़कर बाक़ायदा एक छोटा-सा जहाज़ तैयार कर दिया। उसमें मस्तूल और पाल भी लगा दिये। नौका तैयार करके उसने बालक से कहा—"यह लो !"

बालक बड़ा प्रसन्न हो गया। उसने बड़े प्रेम से कहा—"काका हाशिम ! यह तो बहुत अच्छी नाव है। आओ, इसे मिल कर तैरावें।"

हाशिम की आँखों में आनन्द के आँसू छलक आये। उसने मन-ही-मन इस छोटे बालक के सुखी-जीवन के लिये ख़ुदा से दुआ माँगी।

(२)

हाशिम जब अपने खेत के निकट पहुँचा तब उसके होश गुम हो गए। उसने देखा कि उसके खेत के सम्मुख एक हब्शी जमादार एक बड़ा सा बेंत हाथ में लिये घूम रहा है। सब गुलाम चुपचाप अपनी-अपनी क्यारियों में अंगूर जमा कर रहे हैं। रोज़ की तरह न कोई गा रहा है और न आपस में बातचीत ही कर रहा है। हाशिम समझ गया कि बैरामीटर के पारे का इस प्रकार सहसा नीचे गिर जाना निकट

भविष्य के किस तूफ़ान का द्योतक है। एक ग़ुलाम होकर पूरे दोपहर तक अपनी जगह से ग़ायब रहना कोई हँसी ठट्ठा नहीं है, यह बात हाशिम भली प्रकार जानता था। वह आज अपने काम पर पूरे चार घण्टे लेट पहुँचा था !

हाशिम डरते-डरते अभी अपनी क्यारियों के निकट पहुँचा ही था कि हब्शी जमादार ने गरज कर पूछा—"इतनी देर तक कहाँ था ?"

हाशिम ने काँपते हुए स्वर में बहाना किया—"पेट में दर्द होगया था। चलते-चलते राह में गिर पड़ा था।"

जमादार ने यह जाँच करने की आवश्यकता नहीं समझी कि हाशिम सच कह रहा है या झूठ। उन दिनों का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त था कि ग़ुलाम कभी सच नहीं बोलते। जमादार ने तड़ातड़ ५-७ बेंत हाशिम की पीठ पर जड़ दिये। यदि वह कोशिश करता तो शायद अपने मालिक के पुत्र का नाम लेकर इस यन्त्रणा से छुटकारा पा लेता, परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। बेंतों की मार से हाशिम ज़मीन पर गिर गया था, वह धीरे-धीरे अपनी सूजी हुई पीठ को झाड़-पोंछ कर उठ खड़ा हुआ। हब्शी जमादार उसकी ओर बड़ी क्रोधपूर्ण नज़र से देखता हुआ किसी दूसरी तरफ़ चला गया।

हाशिम जानता था कि इस घटना का यहीं अन्त नहीं हो गया। उसे मालूम था कि यदि आज वह अपना दिन भर के लिए निर्दिष्ट काम समाप्त नहीं कर पायेगा तो शाम के समय उसकी पीठ का चमड़ा बेंतों की मार से उधेड़ दिया जायगा। इस लिए वह अपने काम में जुट गया। आज वह शैतान की हालत से अपना काम कर रहा था। उसके साथी हैरान थे कि इस बूढ़े में इतनी ताकत कहाँ से आ गई।

सायंकाल को ज़मींदार आफ़ताबख़ान के सहन में सब ग़ुलाम अपनी दिन भर की मेहनत का परिणाम लेकर जमा हुए। हाशिम का उस दिन का काम सन्तोषजनक पाया गया। बूढ़े हाशिम को अब तक चिन्ता की गर्मी क्रियाशील बनाए हुए थी, अब उस चिन्ता से

मुक्त होकर वह भारी थकान अनुभव करने लगा। हाशिम अपनी टोकरी लेकर तराज़ू के पास ही बैठ गया। प्रात:काल का फाड़ा हुआ कुरता अब भी उसके गले में लटक रहा था। उसकी पीठ कोड़ों की मार से सूजी हुई थी। मुँह और दाढ़ी के सफ़ेद बालों पर मिट्टी जमी हुई थी। थकावट के मारे हाशिम का बुरा हाल था।

इसी समय अपनी प्रात:काल की भीख लिए हुए बालक गुलशन इस जगह आ पहुँचा। हाशिम को दूर से देखते ही वह उसकी ओर भागा। हाशिम की सम्पूर्ण उदासी और थकावट दूर हो गई, वह इस सुन्दर बालक की तरफ़ देखकर मुस्कराने लगा।

गुलशन इस समय तक निकट आ गया था। वह मुहारनी रटने लगा—"हाशिम, हाशिम, बूढ़ा हाशिम, काका हाशिम!"

अचानक बालक की नज़र हाशिम की पीठ पर पड़ी। उसकी सूजी हुई पीठ को देखकर बालक ने गम्भीर होकर पूछा—"यह क्या हुआ? काका हाशिम!"

जन्म का अभागा गुलाम, बूढ़ा हाशिम इस बार सचमुच झूठ बोला। उसने कहा—"पेड़ से गिर गया था। मामूली-सी चोट आ गई है।"

(२)

बच्चों के दिमाग़ में कोई बात अधिक देर तक नहीं रहती, और यही बचपन की सबसे बड़ी सिफ़त है। उनके दिल में न किसी से स्थिर द्वेष होता है और न किसी से प्रेम। अबोध होते हुए भी वे किसी मनुष्य को देखकर यह भाँप लेते हैं कि वह उनसे स्नेह करता है या घृणा। साथ ही उस मनुष्य के आँखों से ओझल होते ही वे यह भूल जाते हैं कि वह उनसे प्यार करता था या नफ़रत। गुलशन भी हाशिम की याद को बहुत शीघ्र भूल गया। उस दिन के बाद वह बहुत दिनों तक हाशिम को दिखाई भी न दिया। फिर भी लोगों में यह बात बड़े ज़ोर से फैल गई कि हाशिम अपने स्वामिपुत्र का मुँह लगा है। लोगों

को विश्वास हो गया कि अब शीघ्र ही हाशिम की तूती बोलने लगेगी। इस कारण जहाँ बहुत से लोग उससे दबने लगे, वहाँ उससे खार खाने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ गई। यहाँ तक कि हाशिम को स्वयं भी इस बात का कुछ-कुछ भ्रम हो गया कि उससे गुलशन का विशेष सम्बन्ध है।

दिन भर का काम-काज समाप्त करके हाशिम अपने मकान के सामने योंही धीरे-धीरे टहल रहा था कि उसकी दृष्टि दूर पर खड़े होकर पतङ्ग उड़ाते हुए गुलशन पर पड़ी। आज उसे बहुत दिनों के बाद वह तेजस्वी बालक दिखाई दिया था। हाशिम बड़ी शीघ्रता से चलकर उसके निकट पहुँचा। गुलशन अब भी तन्मय होकर अपनी पतङ्ग उड़ा रहा था। हाशिम के भाग कर अपनी तरफ़ आने के कारण उसका ध्यान पलभर के लिए उसकी तरफ़ गया तो सही, परन्तु बिना किसी विशेष भाव के प्रदर्शित किये वह फिर से अपनी पतङ्ग उड़ाने में लग गया।

हाशिम का ख़्याल था गुलशन अब भी मुझे पहिचानता है। अतः वह उसकी तरफ़ देखकर मुस्कराया। परन्तु यह उसका भ्रम था। छोटे बालक की उस दिन की नाव बनानेवाली घटना विस्मृत हो चुकी थी। वह हाशिम को नहीं पहिचान पाया।

बालक का यह उपेक्षा का व्यवहार देखकर हाशिम को कुछ दुःख तो हुआ, परन्तु वह वहाँ से टला नहीं। स्थिर रूप से खड़े होकर वह उस सुन्दर बालक की चञ्चलता का निष्पाप मज़ा लूटने लगा।

बालक बड़े प्रयत्न से पतङ्ग उड़ा रहा था। उसकी नज़र में उसकी पतङ्ग आसमान की छत से टकरा रही थी। परन्तु हाशिम देख रहा था कि बेचारा बालक अभी तक भली प्रकार पतङ्ग उड़ाना नहीं जानता है। उसका दिल इस कार्य में गुलशन की सहायता करने के लिये उत्सुक था, परन्तु गुलशन का आज का व्यवहार देखकर उसकी यह हिम्मत

न हुई कि वह बालक के हाथ से पतंग लेकर उसे और अधिक ऊँचा उड़ा सके।

अचानक बालक गुलशन प्रसन्नता में भरकर हाशिम की ओर देखते हुए चिल्ला उठा—"अहा ! मेरी पतङ्ग !" शायद उसकी पतङ्ग इस बार २-३ फीट और ऊँचाई पर पहुँच गई थी।

हाशिम ने साहस करके बालक के बिना कहे ही उसके हाथ से पतङ्ग ले ली। मालूम होता है कि बालक को हाशिम का यह व्यवहार अच्छा नहीं मालूम हुआ। फिर भी उसने इस बात का विरोध नहीं किया।

हाशिम के हाथ काँप रहे थे। उसने अपनी पूरी ताक़त से झटके दे-देकर पतङ्ग को ऊँचा उठाना शुरू किया। दो तीन झटकों में ही पतङ्ग दुगुनी ऊँचाई पर चली गई। बालक गुलशन का गम्भीर चेहरा अब प्रसन्नता से खिल उठा। वह नाच-नाचकर ताली बजाने लगा।

परन्तु हाशिम की किस्मत ख़राब थी। अगले ही झटके में वह अभागा पतङ्ग का तागा तोड़ बैठा ! तूफ़ान में बेपतवार नाव के समान पतङ्ग उच्छृङ्खल होकर आकाश के किसी मार्ग में स्वच्छन्दतापूर्वक चल दी। बालक गुलशन एक क्षण तक दिग्भ्रम-सा खड़ा रहा। अगले क्षण वह चिल्लाता हुआ पतङ्ग की ओर भागा। बालक की नज़र ऊपर की ओर थी। थोड़ी ही दूर पर एक पत्थर से ठोकर खाकर सम्पूर्ण चिराग़ घाटी के मालिक का लाड़ला पुत्र ज़मीन पर गिर पड़ा। पतङ्ग छिन जाने के मानसिक कष्ट के बाद यह शारीरिक व्यथा। बालक चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। उसकी टाँग पर चोट आ गई थी। कपड़े मिट्टी से भर गए थे।

हाशिम को काटो तो उसमें ख़ून नहीं। वह अचानक यह कैसा कल्पनातीत उत्पात कर बैठा ! उससे हिला-डुला तक भी न गया।

इसी समय उसकी पीठ पर दो चार गालियों के विशेषण के साथ चमड़े का एक कोड़ा पड़ा। बूढ़ा ग़ुलाम ज़मीन पर गिर पड़ा। ख़ुद

मालिक ही गुस्से में भर कर उस पर कोड़ों की बौछार कर रहा था। हाशिम सिसक-सिसककर रोने लगा। सच पूछो तो उसे कोड़ों की मार नहीं रुला रही थी, वह रो रहा था अपनी फूटी क़िस्मत के उल्टे दाँव पर। ज़मींदार आफ़ताबख़ान के अनेक गुलाम हाशिम के हाथ-पैर बाँधकर उसे जेलख़ाने में ले गए।

(४)

यह घटना जिस रूप में आफ़ताबख़ान के सम्मुख रक्खी गई, उसे सुनकर ज़मींदार के जी में आया कि हाशिम को जीते जी ज़मीन में गाड़ दूँ। उस ज़माने का कोई भी क़ानून या कोई भी मज़हब उसकी इस इच्छा के मार्ग में बाधक बन कर खड़ा होने को तैयार न था, फिर भी न जाने क्या सोच कर उसने यह मामला कुछ समय के लिए टाल दिया। हाशिम के साथ रहनेवाले और उससे ख़ार खाये हुए गुलामों ने ज़मींदार को सुनाया था—"हुज़ूर ! आक़ा गुलशन मैदान में अपनी पतङ्ग उड़ा रहे थे। उन्हें अकेला पाकर यह हरामख़ोर उनके पास गया और सन्नाटा देखकर इसने उनकी पतङ्ग तोड़ डाली और उन्हें धक्का देकर ज़मीन पर गिरा दिया। यह वहाँ से भागना ही चाहता था कि हम लोगों ने इसे पकड़ लिया।"

दूसरे दिन आफ़ताबख़ान ने अपने बच्चे को बुलाकर प्यार से पूछा—"क्यों गुल ! कल उस गुलाम ने तुझे धक्का दिया था ?"

गुलशन ने सिर हिलाते-हिलाते कहा—"मुझे थोड़ा ही दिया था। तुम्हें दिया था।"

पिता ने पुत्र के कोमल बालों में उँगलियाँ चलाते हुए पूछा—"तुम्हारी पतङ्ग उसने तोड़ी थी ?"

गुलशन के हाथ में उस समय भी एक पतङ्ग थी। उसने उसे दिखा कर कहा—"नहीं अब्बा, मेरी पतङ्ग तो यह है।"

कल की चोट से गुलशन की टाँग का एक भाग पीला पड़ गया

था; आफ़ताबख़ान ने उसे दिखाते हुए कहा—"तो फिर तुम्हें यह क्या हो गया है ?"

आफ़ताबख़ान की कलाई पर फ़ारसी के नीले अक्षरों में उसका नाम खुदा हुआ था। गुलशन ने पिता की कलाई पकड़ कर पूछा—"तो फिर तुम्हें यह क्या हो गया है ?"

इस बार मुस्कराकर पिता ने पुत्र को छाती से लगा लिया। उसे विश्वास हो गया कि इस अहमक लड़के से कोई बात निकलवाना आसान काम नहीं है। इससे कल की सच्ची घटना किसी भी प्रकार ज्ञात न हो सकेगी। बालक गुलशन को यह क्या मालूम था कि जिन प्रश्नों को वह इस प्रकार हँसी में टाल रहा है उन्हीं के उत्तर पर अभागे हाशिम का जीवन आश्रित है। असल में बालक के अन्तस्तल पर कल की घटना का कोई चिह्न तक भी अवशिष्ट न रहा था।

भूमिपति आफ़ताबख़ान ने एक मटियाला काग़ज़ उठाकर उस पर बेपरवाही से लिख दिया—"आगामी जुमारात को मेरी मौजूदगी में हाशिम की नंगी पीठ पर एक सौ कोड़े लगाये जायँ।"

(५)

निर्धारित मृत्यु से केवल कुछ घण्टे पूर्व ही हाशिम को इस बार फिर उस बाल-मूर्ति के दर्शन हुए। आज शायद उसके जीवन का अन्तिम दिन था। नंगी पीठ पर १०० कोड़ों की मार कोई मख़ौल की सज़ा नहीं है। इससे पूर्व कई बार हाशिम अपनी आँखों से देख चुका था कि ज़मींदार के हब्शी जमादार किस मेहरबानी से दण्डित गुलामों पर कोड़े फटकारते हैं। ५-७ कोड़ों की मार से ही आदमी की पीठ का मांस चीथड़े-चीथड़े होकर उड़ने लगता है और उसके बाद ? हाशिम उसके बाद कुछ सोच न सका। केवल दो एक घण्टे की समाप्ति पर ही वह स्वयं प्रत्यक्ष कर लेगा कि उसके बाद क्या होता है।

हाशिम सिर झुकाकर यही सोच रहा था कि चंचल गुलशन उसके द्वार के सींकचों के पास आकर खड़ा हो गया। हाशिम के चिन्तित

और उदास चेहरे को देख कर बालक का ध्यान स्वयं उसकी तरफ़ आकृष्ट हो गया। आहट सुन कर हाशिम ने जो सिर उठाया तो उसकी नज़र गुलशन पर पड़ी। आज गुलशन को देख कर सब से पहले उसके दिल में यही भाव आया—"वही है यह चपल बालक जिसकी एक चीख़ के कारण आज थोड़ी देर में बड़ी निर्दयता से मेरे प्राण ले लिए जायँगे।"

हाशिम, अभागा और बूढ़ा हाशिम बच्चों की तरह से फफक कर रो उठा।

हाशिम को रोता हुआ देखकर शायद बालक का दिल भी मसोस उठा। उसने बड़ी सहानुभूति के स्वर में पूछा—"क्यों, रोते क्यों हो ? क्या भूख लगी है ?"

हाशिम ने कोई जवाब नहीं दिया, केवल उसके रोने का वेग और भी अधिक बढ़ गया। गुलशन के जेब में पिस्ते भरे हुए थे। एक मुट्ठी पिस्ते हाशिम के सामने डाल कर बिजली के समान चञ्चल वह बालक वहाँ से भाग गया।

इसके थोड़ी ही देर बाद यम के दूत के समान भयंकर एक हब्शी ने हाशिम की कोठरी का दरवाज़ा खोल कर कहा—"चलो, वक़्त हो गया।"

गुलशन के फेंके हुए पिस्ते कोठरी के सींकचों के पास अब भी उसी तरह बिखरे हुए पड़े थे।

(५)

उन दिनों गुलामों को इस तरह की बड़ी-बड़ी सज़ाएं देने का काम बड़े समारोह के साथ किया जाता था—जैसे यह भी कोई त्योहार हो। समझा जाता था कि इससे अन्य गुलामों के हृदयों पर बड़े उत्तम मनोवैज्ञानिक संस्कार पड़ते हैं। आज भी आफ़ताबख़ान के सम्पूर्ण गुलाम कोड़े लगाने की टिकटी को घेर कर क़तारों में खड़े किए गए थे। टिकटी से कुछ दूरी पर, गुलामों की क़तारों के बीच में एक ऊँचा चबूतरा

था। इस चबूतरे पर कालीन बिछाकर एक शाही ढंग की कुर्सी रक्खी गई थी। इस पर भूमिपति आफ़ताबख़ान बड़े रोब के साथ बैठा था।

हाशिम को नंगा करके टिकटी से बाँध दिया गया था। पास ही मिट्टी के एक बड़े बर्तन में, तेल में भीगे हुए बेंत रक्खे थे। एक हट्टा'कट्टा हब्शी इन बेंतों की जाँच पड़ताल कर रहा था। सहसा ज़मींदार का हुक्म हुआ—"होशियार!"

हब्शी जमादार ने कोड़ा सम्हाल लिया; और बूढ़ा हाशिम आँखों में आँसू भर कर ख़ुदा की इबादत करने लगा।

ज़मींदार अगली आज्ञा देने ही वाला था कि बालक गुलशन कहीं से भागा हुआ वहाँ आ पहुँचा। वह सीधा अपने पिता के पास चला आया। बालक की ओर ध्यान बट जाने के कारण आफ़ताबख़ान को अगला फ़रमान देने में कुछ विलम्ब हो गया। कोड़ों का जमादार अभी तक अपना कोड़ा आस्मान में ऊँचा किये खड़ा था।

ख़ुदा से इबादत करते हुए भी हाशिम की दृष्टि इस चञ्चल बालक पर पड़ ही गई। उस बेचारे की आँखों से दो बूँद आँसू, उसके सूखे कपोलों को भिगोते हुए नीचे की ओर खिसक गए। हाशिम के हाथ पीछे की ओर बँधे थे, वह उन्हें पोंछ नहीं सका। ठीक इसी समय बालक गुलशन की नज़र इस बूढ़े गुलाम पर पड़ी। बालक सहसा मचल पड़ा—"इस आदमी को क्यों बाँधा है? इसे छोड़ दो। ऊँ! ऊँ!"

परन्तु यह समय लाड़-प्यार का नहीं था। यह समय था सैकड़ों गुलामों के मालिक आफ़ताबख़ान के रोब की परीक्षा का। ज़मींदार ने बालक की परवाह नहीं की। बायें हाथ से गुलशन को पकड़ कर, दायाँ हाथ ऊँचा उठाकर वह कोड़ों की मार शुरू करने का आदेश देने ही वाला था कि बालक और भी अधिक ऊँचे स्वर में मचल उठा—"ऊँ! ऊँ! छोड़ दो! मैं नहीं मानता! छोड़ दो। ऊँ! ऊँ!"

पिता ने अब भी अपने लाडले पुत्र की तरफ़ ध्यान नहीं दिया

उसने अपना दायाँ हाथ उठा ही दिया। अभागे हाशिम की पीठ पर पहला कोड़ा पड़ने ही वाला था कि गुलशन ज़मीन पर लोट-लोटकर ऊँचे स्वर में रोने लगा—"ऊँ ! ऊँ ! ऊँ !"

ज़मींदार का उठा हुआ हाथ स्वयं नीचे झुक गया। उसने कहा—"बड़ा ज़िद्दी लड़का है।" अगले ही क्षण आफ़ताबख़ान ने गुलशन को अपनी गोद में उठा लिया। इसके बाद हाशिम की ओर मुख़ातिब होकर कहा—"तुम्हारे छोटे आक़ा के हुक्म से तुम्हें इस बार माफ़ किया जाता है।"

दोनों हब्शी जमादारों ने शीघ्रता से हाशिम को टिकटी से खोल दिया।

बालक गुलशन अपने पिता की गोद से उतर कर भागा हुआ हाशिम के पास पहुँचा। अबोध बालक ने अत्यधिक सरल मुस्कराहट के साथ पूछा—"बुड्ढे ! तूने पिस्ते खा लिये थे या नहीं ?"

बेकारी का विष-वृक्ष विषमता-असमानता की भूमि पर पनपता है।

मानव समाज के कितने चमकते हीरे बेकारी के अभिशाप से धूल में मिल गये और जाने कितने······। यह रोग असाध्य नहीं। इसकी औषधि की जा सकती है, किन्तु स्वार्थ-त्याग की भावना होनी चाहिये।

'३०२' शान्तिप्रकाश और उसके परिवार के करुणापूर्ण अन्त की कहानी नहीं बल्कि करोड़ों परिवारों के जीवन की कहानी है।

एक ग्रेजुएट का नौकरी के लिए द्वार-द्वार की खाक छानना—आत्महत्या की भावना, फिर किसी मरणासन्न की हत्या के फलस्वरूप आजन्म कारावास—फिर भी अन्त नहीं। वियोग, मिलन, फिर दो आत्माओं का सागर की लहरों में समा जाना।

'३०२' अभाव-पीड़ा और मूर्त्तिमान क्षुधा-पीड़ित परिवार की कहानी है।

विनोद शंकर व्यास

आपका जन्म काशी के एक समृद्ध घराने में हुआ। स्कूल की पढ़ाई की ओर दिल नहीं लगता था। अतएव मैट्रिक तक भी नहीं पढ़ सके। परिवार के लोग आपसे असन्तुष्ट रहते थे।

व्यास जी की कहानियाँ भाव प्रधान और मर्मस्पर्शी हैं। भाषा सरल व हृदय द्रावक होती है। आपने मधुकरी (२ भाग) नाम का गल्प-लेखकों की कहानियों का संग्रह निकाला। जिस से आपको पर्याप्त ख्याति मिली है।

आपके निम्नलिखित ग्रन्थ हैं। भूली बात, तूलिका, नव-पल्लव, धूप-दीप।

इनकी कहानियों में मानव समाज के पीड़ित, पददलित, दीन-हीन लोगों की कारुणिक झाँकी होती है।

कहानियां छोटी किन्तु भावनात्मक होती हैं। काव्यमयी भाषा सरस और सुन्दर होती है।

: ६ :

३०२

(१)

दफा ३०२ खून का मुकदमा था ! नगर-भर में इस हत्या की चर्चा थी। अभियुक्त, हथकड़ी-बेड़ी से जकड़ा हुआ, कोर्ट के द्वार पर, लाल-पगड़ी के शासन में, खड़ा था।

शान्तिप्रकाश ने चौंककर देखा—उसके नाम की ही पुकार हो रही थी। सिपाही लोग उसे धक्का देते हुए भीतर ले गए। वह अजायब-घर के एक जन्तु की तरह देखा जाने लगा।

दो दिन कारावास में कटे थे, आज मुद्दालेह का बयान था। कटघरे में खड़ा अभियुक्त शान्तिप्रकाश कितना भयानक हो गया था—देखने लायक दृश्य था! उसकी सरस आँखें कितनी गम्भीर हो गई थीं! आँखों में एक डरावना तेज था! निर्भीकता से उसने जज को अपना लिखित बयान दिया जो इस तरह था—

❀ ❀ ❀ ❀

मैं दरिद्रता की गोद में पला हूँ। सुख किसे कहते हैं; मैं नहीं जानता। मेरी माता का देहान्त, जब मैं पांच वर्ष का था तभी हो गया था। मेरे पिता नौकरी करते और मैं उन्हीं के साथ रहता था। पिता को छोड़ इस संसार में कोई अपना न था। सब अपने दिन पूरे करके चले गये थे! पिताजी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था कि मैं पढ़-लिखकर होनहार बनूँ, मेरा भविष्य उज्ज्वल हो। उनके वेतन में से आधे से अधिक केवल मेरे पठन-पाठन में व्यय होता था। वृद्धावस्था में भी घोर परिश्रम करके २०) रुपये मासिक से अधिक वे पा ही न सके! मेरे सुख की कल्पना करके उन्होंने अपने सुख को मिट्टी में मिला दिया था।

इसी तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये। मैं बड़े परिश्रम से अध्ययन करता रहा। एंट्रेंस पास हो गया था। उसी साल न जाने कैसी व्यवस्था करके, पिताजी ने मेरा विवाह कर दिया था। अब भोजन हम लोगों को अपने हाथ से न बनाना पड़ता था। किन्तु विवाह होने पर झंझट और भी बढ़ गई! २०) मासिक में निर्वाह न हो पाता, अतएव रात्रि के समय भी पिताजी को एक जगह काम करने जाना पड़ता था। मुझसे उनका कष्ट देखा न जाता था; किन्तु करता ही क्या? कोई उपाय न था!

मैंने एक दिन उनसे कहा--बाबूजी अब तो मैं सयाना हो गया हूं, एंट्रेंस भी पास कर चुका; आज्ञा दीजिये, तो कोई नौकरी कर लूँ ।

उन्होंने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया--बेटा, अभी तुम्हारा पढ़ने का समय है, नौकरी तुम्हें कहाँ मिलेगी ? एंट्रेंस वालों को पन्द्रह रुपये पर भी कोई नहीं पूछता । कम-से-कम बी० ए० तो पास कर लो, ताकि भविष्य में भली-भाँति अपना निर्वाह कर सको ।

मैं चुप हो गया । फिर कभी यह प्रश्न नहीं उठाया । मैं कालेज में पढ़ने लगा ।

तीन वर्ष और समाप्त हो गये ।

मेरी स्त्री अपने इस जीवन से सन्तुष्ट थी । जैसे उसे कोई लालसा ही न हो ! पिताजी उसका बड़ा आदर करते थे । दरिद्रता के भीषण तांडव नृत्य में भी वह हँसती हुई दिखाई देती थी । उसकी ऐसी मनोवृत्ति देखकर मैं मन-ही-मन प्रसन्न होता था, अपने को भाग्यशाली समझता था ।

उस वर्ष मैंने बी० ए० की परीक्षा दी थी, सफलता की पूर्ण आशा थी; किन्तु भगवान् से मेरा इतना सुख भी न देखा गया, एकाएक मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा । पिताजी बीमार पड़े, दो दिन की बीमारी में ही चल बसे !

अन्तिम समय में उन्होंने मुझसे कहा--बेटा, मैं अपने इस सांसारिक जीवन की परीक्षा दे चुका, भगवान ने मुझे उत्तीर्ण कर दिया है--मैं जा रहा हूँ, तुम सुखी रहो ।

वे चले गये । मेरे मन में दो बातों की कसक रह गई—एक तो वह मेरे पुत्र को न देख सके, जो उनकी मृत्यु के दो मास पश्चात् पैदा हुआ और दूसरी यह कि मैं अपने उपार्जित धन से उनकी कुछ सेवा न कर सका ।

मेरे कष्टों ने अपना और भी भयंकर रूप बना लिया । पुत्र हुआ । दरिद्रता जीवन से परिहास कर रही थी । मेरी समझ में न आता, क्या

करूँ ! घर में भोजन का प्रबन्ध न था। मेरी पत्नी की बड़ी शोचनीय दशा थी। शरीर पीला पड़ गया, एक सूखा कंकाल मात्र बच गया था। मैंने उसके कुछ आभूषणों को बेचकर काम चलाया।

मैं बी० ए० पास हो गया था। कई स्कूलों और दफ्तरों में नौकरी के लिये मैंने प्रार्थना-पत्र भेजे थे, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। मैं बेकार कई महीने तक चेष्टा करता रहा। अन्त में मुझे एक स्कूल में अध्यापक का स्थान मिला। वेतन ३०) मासिक था।

मैं बड़े परिश्रम से अध्यापन-कार्य करता रहा। कुछ लड़के मेरी पढ़ाई से असन्तुष्ट थे। प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकगण मेरी ओर से सदा उदासीन रहा करते। इसका मुख्य कारण था, मेरा फटा-कोट, सिली हुई धोती और मैली टोपी! मेरी स्थिति ही ऐसी न थी कि मैं अपने जीवन में वस्त्रों द्वारा कुछ परिवर्तन कर डालता, इसलिए उन लोगों से हिल-मिल न सका। उनकी दृष्टि में रुलाई देखकर मुझे साहस भी न होता था।

छः मास के बाद मुझे स्कूल छोड़ देने के लिये सूचना मिली। कारण यह बतलाया गया कि विद्यार्थी पढ़ाई से असन्तुष्ट हैं।

विवश होकर मैंने स्कूल छोड़ दिया। अब कोई साधन न रहा। बहुत चेष्टा की; किन्तु इस बार तो निराश ही होना पड़ा। कहीं स्थान न मिला। पड़ोस के कुछ बालकों को पढ़ाकर चार-पांच रुपये मिल जाते। आधे पेट और उपवास से दिन कटने लगे।

मनुष्य-मात्र से घृणा हो चली। कभी सोचता—मनुष्य इतना भयानक क्यों है ? लोग एक दूसरे को खाजाने के लिये प्रस्तुत क्यों हैं ? मनुष्य ने ईर्ष्या, द्वेष, घृणा की रचना करके संसार में अपना विचित्र रूप प्रकट किया है। आह ! संसार में प्रलय क्यों नहीं होती—आग क्यों नहीं लगती—लोग उसमें क्यों नहीं जल जाते—हाहाकार क्यों नहीं मचता कि मैं भी उसीमें जलकर अपनी इस दुर्बल काया को बुझाकर शान्त कर देता ?

ईश्वर में अश्रद्धा होगई। नहीं-नहीं, विश्वास ही उठ गया! पुण्य और पाप में, नरक और स्वर्ग में, सन्देह होने लगा।

मेरी पत्नी बालक कोगोद में लेकर रो रही थी। मैंने पूछा—तुम क्यों रोती हो? मरना तो है ही, रोकर क्यों प्राण दिया जाय?

उसने सिसकते हुए कहा—आपके कष्टों को देखकर रोती हूँ।

मैंने कहा—संसार में मनुष्य कितना झूठ बोलते हैं! धन ही सब कुछ है। 'ईश्वर' नाम की कोई चीज नहीं है।

उसने च...च...च...करते हुए कहा—ऐसा न कहो; ईश्वर है। उसपर अविश्वास करना पाप है। यह तो हम लोग अपने पूर्व-जन्म का फल भोग रहे हैं।

मैंने समझा, यह मूढ़ है। यह इन रहस्यों को क्या समझेगी। यदि ईश्वर होता, तो अन्याय न करता—निर्धन और धनी की श्रेणी न बनाता—एक को विलास और ऐश्वर्य का सम्राट् बनाकर दूसरे को एक-एक दाने के लिये मुहताज न करता!

दिन-भर का उपवास था। उस दिन भोजन का कोई प्रबन्ध न था। बालक तक भूखा था। घर में कुछ बर्तनों के सिवा कुछ न बचा था। पीतल का एक पुराना लोटा लेकर मैं बाज़ार में उसे बेचने के लिये गया। उसे बेचा; उस दिन का काम चला। रातभर नींद न आई; हृदय में भीषण कोलाहल था। विचार करने लगा—

भीख भी नहीं मांग सकता! पढ़ा-लिखा आदमी हूँ, कैसे साहस होगा?

फिर?

आत्महत्या करूं?

नहीं, वह कैसे हो सकता है? स्त्री और पुत्र फिर क्या करेंगे? उनका निर्वाह कैसे होगा?

तब, उनका भी अन्त कर दूँ? किन्तु साहस नहीं! ऐसी स्त्री को, जिसने अपना सब सुख मेरे चरणों पर अर्पित कर दिया है—आह!

उस देवी की हत्या मैं कैसे कर सकूँगा ?

उन्मत्त विचारों में परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ।

मैंने अपनी मृत्यु के अनेक उपायों का अन्वेषण किया। दरिद्रता का नृत्य देखते-देखते कभी मेरे नेत्रों के सम्मुख सड़कों और गलियों में पड़े अधमरे, अन्धे, लँगड़े, लूले और भूखे भिखारियों के चित्र फिरने लगते। मैं तड़पने लगता। मेरा दम घुटने लगता। मैंने मन में फिर कहा—दरिद्रों के लिये क़ानून क्यों नहीं बनाया जाता कि उनको फाँसी दे दी जाय, बस उनके कष्टों का एक साथ ही अन्त हो जाय। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं ही उनकी हत्या करके उनको कष्टों से छुड़ा दूँगा और अन्त में इसी अपराध में अपने को भी सांसारिक दुःखों से मुक्त कर सकूँगा।

दूसरे दिन मैंने अपनी स्त्री से कहा—तुमको मेरे कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा है। सचमुच तुम्हारा अभाग्य था जो मेरे साथ तुम्हारा विवाह हुआ। तुम देवी हो, मैं तुम्हारे योग्य न था।

मेरी आँखें छलछला उठीं।

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए कहा—आप ऐसी बातें क्यों करते हैं ?

वह रोने लगी।

दिन बीत गया। रात हो चली थी। मैं घर से निकला। वह सो रही थी। मैं जी भरकर उसके सरल सौन्दर्य को देख लेने की चेष्टा कर रहा था अन्तिम भेंट की कल्पना थी। हाथ में छुरा लेकर घर से निकला। सन्नाटे में भटक रहा था।

गंगा-तट पर आया। देखा, एक भिखारी पड़ा था। मैं वहीं खड़ा हो गया। मेरी नस-नस में उन्माद का संचार हो रहा था। वह पड़ा हुआ कराहता था।

मैंने पूछा—क्या चाहते हो ? क्या सुख चाहिये ?

उसने बड़े धीमे स्वर में कहा—बाबू मर रहा हूँ, जान भी नहीं निकलती !

मैंने तीखे स्वर में पूछा—जान देना चाहते हो ?

उसने कहा—हाँ···न···हीं।

जान दे देने ही पर तुम्हें सुख मिलेगा—कहते हुए मैंने छुरे को उसकी छाती के पार कर दिया। वहाँ से खून से लथपथ हाथों से, आकर थाने में अपना बयान दिया, जो आपके सामने है। मैं अपने अपराध को स्वीकार करता हूँ, मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है। मुझे फाँसी चाहिए, इसी में मुझे शान्ति मिलेगी।

हाँ, एक बात के लिये मैं कोर्ट से प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे बच्चे और स्त्री को भी फाँसी देकर मेरी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करे। संसार में मृत्यु से बढ़कर हम लोगों के लिये कोई सुख नहीं है। अतएव शीघ्र-से-शीघ्र हमारा निर्णय हो।

—शान्तिप्रकाश, बी० ए०

❀ ❀ ❀ ❀

(२)

जज ने ध्यान से उसके लिखित बयानों को पढ़ा। उसने बार-बार अपनी बड़ी-बड़ी गम्भीर आँखों से अपराधी की ओर देखा। सरकारी वकील खड़ा था। कोर्ट शान्त था। प्रश्न आरम्भ हुए। दर्शक उत्सुकता से आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे।

जज ने पूछा—हाँ, तो तुम मरना चाहते थे ? क्यों ?

और अब भी चाहता हूँ।

मरने के लिये क्या यही सर्वोत्तम उपाय तुमने सोचा था ! मरने के और भी ढङ्ग थे।—जज ने शासन की आँखों से देखते हुए कहा।

अभियुक्त चुपचाप अपनी खूनी आँखों से जज की तरफ देख रहा था; उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

क्या तुम उत्तर नहीं दोगे ?—जज ने फिर पूछा।

मैं अपने बयान से कुछ अधिक नहीं कहना चाहता। मैं मृत्युदंड चाहता हूँ, मुझे फांसी चाहिये, फाँसी ! जीते-जागते कठपुतलो ! मुझे व्यर्थ क्यों छेड़ते हो ? धन की लालसा में रक्त की धारा बहा देनेवालो ! मुझसे बहस न करो। ऐश्वर्य के कुञ्ज में विहार करनेवाले धनिको ! तुम्हें क्या मालूम, कंकड़ों पर सोने में कितनी व्यथा है—भूखे पेट की क्या हालत है ? बस, बस, अब विलम्ब न करो। शान्ति से मुझे मरने दो। मेरा निर्णय करो।

सब आश्चर्य से इस विचित्र अभियुक्त को देख रहे थे।

जज आँखें गुरेरता हुआ देख रहा था। सरकारी वकील ने धीरे से कहा—हजूर, यह बड़ा भयानक मालूम पड़ता है।

प्रश्न बन्द हुए। जूरियों से जज ने सम्मति ली। अपने कमरे में जाकर फैसला लिखा—बीस वर्ष के लिये कालापानी !

फाँसी नहीं हुई !!

अभियुक्त ने फैसला सुनकर कर्कश स्वर में कहा—तड़पा-तड़पाकर मारने से अच्छा है कि एक ही बार मार डालो।

जज ने शेर की तरह गरजकर कहा—वहाँ तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध सरकार कर देगी। चुप रहो।

सिपाहियों की ओर देखते हुए जज ने संकेत किया—ले जाओ इसे यहाँ से।

बेड़ी झनझनाई। सिपाहियों ने गर्दन पर झटका देते हुए कहा—चल !

(२)

दस वर्ष के बाद—

शान्तिप्रकाश पोर्ट-ब्लेयर के पास, समुद्र-तट पर, पत्थरों के बाँध बना रहा था। फावड़ा रखकर, पसीना पोंछते हुए, उसने एक बार समुद्र का भीषण हाहाकार देखा। किरणें डूब रही थीं। उस जगह और कोई कैदी न था। अन्धकार हो चला था। सब अपने झोपड़ों की तरफ

लौटने लगे सहसा पास के झुरमुट से चिल्लाने का स्वर सुन पड़ा।

शान्तिप्रकाश उधर दौड़ा। उसने देखा कि एक कुली एक स्त्री पर अत्याचार किया ही चाहता है। न जाने क्यों, उसका पावड़ा वेग से चल पड़ा। बेचारी स्त्री उस कुली के अत्याचार से मुक्त होकर शान्तिप्रकाश को देखने लगी—और वह उसे देखने लगा।

दूसरे ही क्षण स्त्री ने कहा—मेरे नाथ! मेरे स्वामी!!

शान्तिप्रकाश ने पूछा—गोमती! तुम हो? और किशोर कहाँ है?

स्त्री ने कहा—किशोर भूख से तड़पकर मर गया। उसका अन्तिम संस्कार कैसे किया जाता, इसलिये उसके शव को झोंपड़ी में ही रखकर मैंने आग लगा दी। मैं भी उसी अपराध के कारण द्वीपान्तर का दंड पाकर आई हूँ।

शान्तिप्रकाश और गोमती की आँखों में जैसे आँसू सूख गये थे। वह भयानक मिलन बड़ा ही कठोर था।

शान्तिप्रकाश ने विचार करते हुए कहा—अच्छा, चलो, हम लोगों को भागना पड़ेगा। सम्भवतः यह आदमी मर गया। तुम्हारी और किशोर की कथा बाद में सुनूँगा, पहले जीते रहने का प्रबन्ध करना पड़ेगा।

दोनों को उस धुँधले में किसी के आने का सन्देह होने लगा। वे भाग चले। वे भागते-भागते उसी समुद्र-तट पर आये।

दोनों हाँफ रहे थे। अब उनका पकड़ा जाना निश्चित था; क्योंकि पुलिस पास पहुँच चुकी थी।

शान्तिप्रकाश ने निराश दृष्टि से एक बार गोमती की ओर देखा। उसने भी आँखों की भाषा में कहा—हाँ!

दोनों, हाथ में हाथ मिलाकर, समुद्र में कूद पड़े!

'अर्थ-पिशाच' में समाज के उस व्यक्ति का चित्र है जो गरीब जनता--श्रमिकों—के खून पसीने की कमाई पर साँप बनकर बैठा रहा।

उस शोषक के शोषित वर्ग पर प्रपीड़न—अत्याचार की स्मृति मरणासन्न वेला में महाकाल—मौत की छाया बन कर सामने आते हैं।

मूर्त्तिमान शोषण की चित्रावली के सामने 'अर्थ-पिशाच' की आत्मा कांप रही है।

कहानी में आदि से अन्त तक मनुष्य की मानसिक चित्त-वृत्तियों की मीमांसा है।

भगवती चरण वर्मा

आपका जन्म शफीपुर जिला उन्नाव में हुआ—आप ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी. ए. एल. एल. बी. की परीक्षा पास की। आप की पहली कहानी श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के पत्र 'मनोरञ्जन' में प्रकाशित हुई थी।

कहानी की भाषा सजीव और प्रभावोत्पादक है। मानव-जीवन का सजीव चित्र खींचा है। भावों का बड़े सुन्दर रूप से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है—वर्णन की रीति स्वाभाविक और अनुपम है। जिसे पढ़ते २ पाठकों की उत्सुकता चरम सीमा तक पहुंच जाती है। बार बार पढ़ने पर भी पाठक संतुष्ट नहीं होता।

निम्नलिखित ग्रंथों की आपने रचना की है—चित्रलेखा, तीन वर्ष, इन्स्टालमैंट, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, मधुकण और प्रेम-संगीत।

: १० :

अर्थ-पिशाच

मैं उस दिन सचमुच डर गया। मैं प्रकृति से कायर नहीं हूँ, डरपोक भी नहीं; पर न जाने क्यों मैं उस दिन सिर से पैर तक सिहर उठा। मैं कह दूँ न? मैं डाक्टर हूँ—मृत्यु मेरे लिए कोई नई वस्तु नहीं, उसके साथ तो मैं प्रायः नित्य ही खेला करता हूँ। भयानक से भयानक परिस्थितियाँ मैंने देखी हैं, एकलौते पुत्र की मृत्यु-शय्या पर

बैठकर उसके वृद्ध माता-पिता का हाहाकारी विलाप मैंने सुना है। रूखी-सूखी रोटियों से घर भर का पेट भरनेवाले पुरुष को अपनी युवती पत्नी, दुधमुँहे बच्चों, तथा कब्र में पैर लटकाए हुए विधवा माता, चाची और दादी की ओर मौन तथा पीड़ित विवशता के साथ डबडबाई हुई आँखों से देखते हुए दम तोड़ते देखा है—पाषाण-मूर्ति की भाँति भावनारहित तथा अचल! पर उस दिन न जाने क्यों मैं डर गया!

उस अंधकारमय कमरे में मैंने उस वृद्ध को देखा और उस वृद्ध के सिर पर मैंने देखा···नहीं, कह नहीं सकता, वह क्या था, पर एक छाया थी। मैं नरक पर विश्वास नहीं करता था, पर उस दिन उस कमरे में मैंने साक्षात् नरक देखा, रोमहर्षण और विकराल!

मैंने कमरे में प्रवेश किया और मुझे एक क्षीण स्वर में सुन पड़ा,—डाक्टर साहब!—जिस ओर से आवाज़ आई थी, उस ओर मैंने देखा—पलँग पर वह वृद्ध बैठा था, उसका मुख मृत्यु के धुँधलेपन से विकृत हो रहा था। मैं उसकी ओर बढ़ा—पर एकाएक मेरे सारे शरीर में कँपकँपी दौड़ गई।

वह वृद्ध अकेला न था—उस कमरे में कोई और भी था। मैंने ध्यान से देखा और वृद्ध के मस्तक पर नाचती हुई मैंने एक घृणित तथा कुरूप छाया देखी। मुझे देखते ही वह छाया मुसकरा पड़ी, उसकी आँखों की आग ने मेरे हृदय को झुलसा दिया, मैं सहम गया।

वृद्ध ने फिर कहा,—डाक्टर साहब!

छाया लुप्त हो गई। मैं सँभला। आगे बढ़कर मैं वृद्ध के पास पहुँचा—उसका मुख पीला था; आँखें पथराई हुई। उसने मेरा हाथ पकड़कर पुकारा,—डाक्टर साहब!

मैं कुरसी पर बैठ गया, और मैंने कहा,—कहिए!

एक पीड़ित स्वर में उसने कहा—डाक्टर साहब मुझे बचाइए!

वृद्ध की बात का मैंने कोई उत्तर न दिया। मैंने उस कमरे को अच्छी तरह से देखा। वह कमरा चौकोर था और उसके बीचोंबीच उस

वृद्ध का पलंग पड़ा था। उस पलंग के पाये चाँदी के थे और उन पर सोने का काम था। कमरे की नाप का एक फारस का कालीन बिछा था और दीवारों पर बड़ी-बड़ी तस्वीरें टँगी थीं। कमरा काफी बड़ा था और उसमें बारह खिड़कियाँ थीं। खिड़कियाँ सब बन्द थीं और उनपर मखमल के काले परदे पड़े थे। दरवाजे पर भी काला परदा पड़ा था। जेठ की चमकती हुई दोपहर के समय उस कमरे में अमावस्या की अर्द्धरात्रि का अन्धकार था—एक कोने में एक लालटेन टिमटिमा रही थी।

थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद वृद्ध ने फिर पुकारा—डाक्टर साहब !

मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा, हाँ !

वृद्ध ने कुछ सोचा—क्या आप मुझे बचा सकते हैं ?

मैं मौन रहा।

मेरे उत्तर की थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद वह कराह उठा,—आप नहीं बचा सकते डाक्टर साहब, नहीं बचा सकते, जब मैं स्वयं अपने को नहीं बचा सका, तब आप मुझे क्या बचा सकेंगे—उफ !—और उसकी आँखें बन्द हो गईं।

मैंने उठकर वृद्ध को लिटा दिया।

वृद्ध लेट गया; उसने अपनी आँखें खोल दीं। वह एकटक मेरी ओर देख रहा था और उसके अन्तर के भाव उसके मुख पर स्पष्ट थे। उसकी आँखें गढ़े में धँसी हुई थीं। उसके मुख पर झुर्रियाँ पड़ी थीं और उसके चौड़े मस्तक पर बल पड़े थे। एक असह्य पीड़ा से उसका मुख ऐंठ-सा गया था।

उस कमरे में घोर निस्तब्धता छा रही थी। मैं अपने हृदय की धड़कन साफ सुन सकता था। मुझसे न रहा गया, मैंने पूछा, कैसी तबियत है ?

वृद्ध मुस्कराया—डाक्टर साहब, मृत्यु से लड़ रहा हूँ, और—और कुछ अनुभव कर रहा हूं, पर क्या अनुभव कर रहा हूं, मैं बतला

नहीं सकता।— वह फिर चुप हो गया।

थोड़ी देर तक हम दोनों मौन रहे। एकाएक वृद्ध बोल उठा—डाक्टर साहब, आप जानते हैं, मैं क्या हूं ?

वृद्ध के स्वर में एक असाधारण दृढ़ता आगई। उस दृढ़ता में कठोरता, कर्कशता और कटुता का विचित्र सम्मिश्रण था ! बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए हुए ही उसने फिर कहा—डाक्टर साहब, आप डरियेगा नहीं, मेरी शक्ति क्षीण हो गई है; मुझसे भी प्रबल एक दूसरी शक्ति मुझ पर विजय पा रही है; मैं आपका अहित नहीं कर सकता। आप नहीं जानते, मैं क्या हूं ! आज के पहले मैं भी नहीं जान सका था—यह मेरे जीवन का प्रथम सत्य है और साथ ही यह मेरे जीवन का अंतिम सत्य होगा—मैं शैतान हूं, शैतान !

मैंने स्पष्ट देखा कि वह कुरूप छाया वृद्ध के सिर पर खड़ी हुई हँस रही है।

उस कमरे में मेरा दम घुट रहा था। जी चाहा कि उठ कर भागूँ। मैंने उठने का प्रयत्न भी किया। पर मैंने अनुभव किया कि मेरी सारी शक्ति लुप्त हो गई। एक निर्जीव व्यक्ति की भांति मैं बैठा हुआ सुन रहा था और वह कह रहा था—मैं वास्तव में शैतान हूं, डाक्टर साहब, बहुत बड़ा शैतान। लोग मुझे करोड़पति कहते हैं और मैं हूं भी। धन, वैभव और शक्ति मेरे पैरों पर लोटते रहे हैं, मनुष्यता को मैंने ठुकराया है। डाक्टर साहब—मुझे बचाइए, हाथ जोड़ता हूं, मुझे बचाइए ! मैं आपको सोने से पाट दूँगा। अपनी सम्पत्ति का उपभोग करने के लिए मुझे जीवन दीजिए !

वृद्ध उत्तेजित हो उठा—जी चाहता है तुम्हारा गला मरोड़ दूँ—डाक्टर, मैं अपनी आधी सम्पत्ति तुम्हें दे दूँगा, अगर तुम मुझे मृत्यु से बचा दो। क्या मेरी आधी सम्पत्ति एक जीवन को भी नहीं बचा सकती...!

वृद्ध उठ बैठा, उसमें न जाने कहाँ का बल आगया था। एक पैशा-

चिक चमक से उसका मुख चमक रहा था।

पर उठने के साथ ही वह चिल्ला उठा--तुम फिर क्यों आये, तुम कैसे जी उठे—हटो, मेरे सामने से हटो !--वह एकटक मेरे पीछे देख रहा था।

मैंने पीछे फिरकर देखा, एक दुबला-पतला व्यक्ति खड़ा था। उसकी एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी और वह एक फटा चिथड़ा पहने था।

वृद्ध कहता ही रहा--नहीं, मैं तुम्हारी सम्पत्ति नहीं वापस कर सकता। वह मेरी सम्पत्ति है—कानून से मेरी है। तुम कहते हो, मैंने धोखा दिया है, पर तुमने धोखा खाया क्यों ? तुम बेवकूफ हो, मैं अक्लमन्द। तुम निर्बल हो, मैं सबल। तुम न्याय चाहते हो ? अदालत जाओ। तुम दया चाहते हो ? भगवान से प्रार्थना करो। तुम इस दुनिया में रहने के लायक नहीं हो ? जाओ, आत्महत्या कर लो।

वह व्यक्ति मुसकराया एक अजीब दर्दभरी मुसकान थी उसकी। उसने ऊपर की ओर देखा और फिर वह गम्भीर हो गया। इसके बाद वह घूमकर पीछे चला और दीवार में न जाने कहाँ समा गया।

वृद्ध कुछ रुका, उसने गहरी साँस ली, फिर उसने आरम्भ किया,—गया---अच्छा हुआ, गया। धन शक्ति है, परमेश्वर है---डाक्टर साहब, मुझे अच्छा कर दो---हाथ जोड़ता हूँ, मुझे बचाओ !......वह कहते-कहते रुक गया। वह फिर मेरे पीछे एकटक देख रहा था।

मैं मुड़ा—सामने एक स्त्री खड़ी थी। उसके साथ चार छोटे-छोटे बच्चे थे। स्त्री सुन्दरी थी। युवती थी। उसके मुख पर विवशता की छाप थी। वृद्ध चिल्ला उठा,---दूर हट चुड़ैल, मैं क्या करूँ, जो तू भीख माँगती है ! तेरा घरबार मैंने अपने कर्ज के बदले में लिया है। तेरे पति ने क्यों मुझ से क़र्ज़ लिया ? कौन कहता है कि वह रुक्का जाली था ? अदालत की तो डिग्री हो गई थी। तेरे बच्चे भूखों मरते हैं तो उनका गला घोट दे। तू भूखी मरती है तो वेश्या बन जा----निकल मेरे यहाँ से, नहीं तो अभी नौकरों को बुलाकर तेरी आबरू उतरवा लूँगा।—

स्त्री अपने बच्चों के साथ घूमी और वह भी उसी दीवार में लुप्त हो गई।

मैं घबरा गया। सारा बल लगाकर मैं उठ खड़ा हुआ और द्वार की ओर भागा। उसी समय वृद्ध ने चिल्लाकर कहा—डाक्टर साहब, मुझे अकेला मत छोड़िए नहीं तो ये लोग मुझे मार डालेंगे।

मैं रुक गया—अपनी इच्छा के विरुद्ध। मुझे रुक जाना ही पड़ा। उस वृद्ध की आवाज़ में इतनी विवशता से भरा आग्रह था। मैंने पीछे फिर कर देखा, उस वृद्ध के पलँग को घेरे दस-बारह आदमी खड़े थे। लँगोटी लगाये और कृश। उनके नेत्र क्रोध से लाल थे—मानो वे वृद्ध के प्राण लेने पर तुले हों। मेरे रुक जाने से वृद्ध का मुख प्रसन्नता से खिल उठा, उसका भय जाता रहा। उसने कड़ककर उन लोगों से कहा—तुम्हारी हड़ताल मेरा ज़रा भी अहित नहीं कर सकती। मेरे पास करोड़ों रुपया है, मिल साल दो साल बन्द रहे तो रहे। लेकिन तुम भूखों मर जाओगे—समझे! मैं तुम्हारी तनख्वाह क्यों बढ़ाऊँ—तुम्हारी गरज हो तो काम करो नहीं तो घर बैठो। तुम्हें गेहूँ खाने की क्या आवश्यकता? ज्वार और चना खाकर तुम जीवित रह सकते हो। फटे कपड़े तुम्हारे तन ढँकने के लिए काफी हैं। एक कोठरी में तुम रह सकते हो। जाओ, निकलो, तुम पशु हो और पशु की तरह रहो। अगर नहीं मानोगे तो एक-एक को गोली से मार दूँगा।

वे सब के सब निराशा की मुद्रा लिए हुए उसी दीवार में लुप्त हो गए।

मैं भय से पागल हो गया था—चुपचाप लौट आया और कुरसी पर बैठ गया। वृद्ध ने मेरा हाथ पकड़ लिया। उफ, उसका हाथ बर्फ की भाँति ठंडा था। उसने मुझसे कहा—डाक्टर साहब! मैं आपका कितना आभारी हूँ—पर आप एक कृपा मुझ पर और करें, मुझे अच्छा कर दें। मैं मरना नहीं चाहता, मैं दुनिया में रहना चाहता हूँ। इस धन के लिए मैंने न-जाने कितनों की हत्या की, यही नहीं, स्वयं अपनी आत्मा की भी

हत्या की है । मेरे पास अथाह धन-राशि भरी पड़ी है, एक-से-एक विद्वान को, एक-से-एक पुण्यात्मा को मैं खरीद सकता हूँ, उससे अपने पैर के तलवे चटवा सकता हूँ । मैं धर्मावतार हूँ, मैं दानी हूँ, मैं मान्य हूँ, मैं क्या नहीं हूँ । लोग मेरी पूजा करते हैं । राजा मेरी बात पर अविश्वास नहीं कर सकता, जनता कह देती है, बड़ा आदमी है, झूठ नहीं बोलेगा । डाक्टर साहब, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे मैं नहीं खरीद सकता । ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसे मैं वश में नहीं कर सकता । डाक्टर साहब मैं जीवन खरीदना चाहता हूँ, मृत्यु को वश में करना चाहता हूँ । बोलिए, क्या मैं यह कर सकता हूँ ?

मैंने धीरे से कहा—असम्भव !

असम्भव !—वृद्ध चीत्कार कर उठा:—क्या कहते हो असम्भव ! तुम बेवकूफ हो । और वह पलँग के नीचे उतरा, मेरा हाथ पकड़ कर उसने कहा—चलो ।—वह मुझे उसी दीवार के पास ले गया जहाँ वे सब मूर्त्तियाँ लुप्त हो गई थीं । उसने दीवार में लगा हुआ एक खटका दबाया, और वहाँ दीवार से लगा हुआ एक दरवाजा खुल गया । वह एक सेफ का दरवाजा था, उस सेफ के अन्दर सोने की ईंटों के अम्बार लगे थे । वृद्ध ने कहा—डाक्टर, देखो यह सब का सब सोना भी क्या मृत्यु को वश में नहीं कर सकता ! इतने सोने के लिए संसार का सबसे बड़ा धर्मात्मा मेरा जीवन भर का गुलाम बन जाय । मैं केवल इतना चाहता हूँ कि कुछ वर्षों के लिए मृत्यु चुप रहे ।

वृद्ध लौट कर पलँग पर लेट गया । सेफ का दरवाजा खुला ही रहा।

थोड़ी देर तक वृद्ध अनिमेष दृगों से सेफ में रक्खे हुए सोने के ढेर को देखता रहा, फिर वह कराह उठा,—डाक्टर साहब ! आपके हाथ जोड़ता हूँ, पैर छूता हूँ, मुझे बचाइए । यह सोना, यह घरबार—अपना सब कुछ मैं दे सकता हूँ, बस, मुझे जीवन चाहिए, जीवन !

उस समय वह घृणित तथा कुरूप छाया वृद्ध के सिर पर फिर आ गई थी । इस बार वह हँस न रही थी । उसका कुरूप मुख प्रतिहिंसा

और क्रूरता की निर्दय छाप से और भी कुरूप हो गया था। वृद्ध ज़ोर लगाकर बैठ गया, वह चिल्ला उठा,—डाक्टर ! मैं शैतान हूँ, भयानक शैतान ! मुझे दुःख है कि मैं मर रहा हूँ। कुछ दिन और जिंदा रह सकता तो......उफ ! मैं हारा--डाक्टर, अंत में मुझे हारना ही पड़ा !—वह गिर पड़ा।

उसी समय एक विचित्र बात हुई ! वृद्ध के पलँग से एक काला साँप नीचे उतरा—वह कहाँ छिपा था, मुझे ताज्जुब हो रहा था। वह साँप सेफ में घुसा, और सेफ का दरवाजा आप ही आप बन्द हो गया। साथ ही वह छाया भी लुप्त हो गई।

मैं घबराकर उठ बैठा। मैंने वृद्ध की नब्ज देखी, हाथ ठंडा था, हृदय पर हाथ लगाया, हृदय की गति बन्द हो गई थी।

मैं दीवार की ओर बढ़ा—पर वहाँ दरवाजे का कोई चिह्न न था।

उस समय मैंने अनुभव किया कि मैं नरक में खड़ा हूँ। मेरा साहस छूट गया। मैं भागा--दौड़ता हुआ अपने घर आया और बेहोश होकर गिर पड़ा।

•

खिलौनेवाला, मुरलीवाला, मिठाईवाला व्यवसायी व्यक्ति नहीं । वह अपनी अन्तर्पीड़ा की औषधि खोजता-फिरता है।

उसको विश्व के बच्चों में अपने बच्चों की आत्मा के दर्शन होते हैं।

कहानी में पीड़ा है जलन है किन्तु एक स्वर्गीय आनन्द भी है।

यह है मिठाईवाला !

भगवती प्रसाद वाजपेयी

वाजपेयी जी का जन्म कानपुर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। जीवन के कटु अनुभवों ने आपको गद्य लिखने को प्रेरित किया। पहली कहानी माधुरी में प्रकाशित हुई। आधुनिक प्रगतिशील लेखकों में आपका मुख्य स्थान है। आपने लेखनी से पृष्ठभित्ति पर अनेक चरित्रों को खड़ा किया है। पाठक के सन्मुख नरनारी, जड़-चेतन, सविवेक पशु, मानव जीवन के कठोर और कोमल पहलू नग्न रूप में आँखों में गुजर जाते हैं।

आपकी कहानियों में जीवन का सच्चा अध्ययन है। आपने अपनी कहानियों में घरेलू और सामाजिक त्रुटियों का अनुपम वर्णन किया है।

आपने यथार्थवाद का सच्चा स्वरूप अंकित किया है।

आपने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है--

मधुपर्क, दीपमालिका, हिलोर, पुष्करिणी, खाली बोतल, कला की दृष्टि।

: ११ :

मिठाईवाला

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलोनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक मधुर ढंग से

गाकर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कण्ठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिये हुए युवतियाँ चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अन्तर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुण्ड उसे घेर लेता। और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठ कर खिलौने की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे ला कर खिलौनों का मोल भाव करने लगते। पूछते—"इछका दाम क्या है, औल इछका, औल इछका ?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्हीं-नन्हीं अँगुलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर चल देता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।" सागर की हिलोर की भाँति उसका वह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आये। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौने ले आया, तो बोला—"मेला घोला कैछा छुन्दल ऐ !"

मुन्नू बोला—"औल देखो मेला आती कैसा छुन्दल ऐ !"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की माँ रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने पूछा—"अरे चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिये हैं ?"

मुन्नू बोला—"दो पैछे में। खिलौनेवाला दे गया ऐ !"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है ?

कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

जरा सी बात ठहरी, रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता भला क्यों पड़ती।

(२)

छः महीने बाद—

नगर भर में दो ही चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—भई वाह ! मुरली बजाने में यह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर, यह मुरली बेचता है। सो भी दो-दो पैसे। भला इसमें उसे क्या मिलता होगा। मेहनत भी तो न आती होगी।

एक व्यक्ति ने पूछ लिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा।"

उत्तर मिला—"उमर तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तिस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफ़ा बाँधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था ?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचा करता था ?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक-मृदुल स्वर सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलाने वाला मुरलियावाला !"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजयबाबू के पास गई। बोली—"जरा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो चुन्नू-मुन्नू के लिये ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आवे, न आवे। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गये हैं।"

विजयबाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिये हुए वे दरवाजे पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया और किसी की सोथनी (पायजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुण्ड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्‌गद् हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया, जरा रुको, ज़रा ठहरो, एक-एक को लेने दो अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आये ही हैं। और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।...हाँ बाबू जी, क्या पूछा था आपने, कितने में दीं!...दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।"

विजयबाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुसकरा दिये। मन-ही मन कहने लगे—कैसा ठग है! देता सबको इसी भाव से है, पर मुझपर उल्टा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—"तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत होती है। देते होगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझ मेरे ऊपर लाद रहे हो।"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला—"आपको क्या पता बाबू कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज़ क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है।...आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिये तो बाबूजी, इनका असली दाम दो

ही पैसे है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हज़ार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।"

विजयबाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा वक्त नहीं है, जल्दी से दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजयबाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गये।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड में मुरलियाँ बेचता रहा। उसके पास कई रङ्ग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रंग पसन्द करते, मुरलीवाला उसी रङ्ग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू, राजाबाबू, तुम्हारे लायक तो बस यह है।...हाँ भैये, तुमको वही देंगे। यह लो।...तुमको वैसी न चाहिये, ऐसी चाहिये?—यह नारङ्गी रङ्ग की?—अच्छा वही लो।...पैसे नहीं हैं? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ।...तुम ले आये पैसे?...अच्छा, यह लो तुम्हारे लिये मैंने पहले ही से निकाल रक्खी थी।...तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे? धोती पकड़ के, पैरों में लिपट के, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं, बाबू।...हाँ, फिर जाओ। अबकी बार मिल जायँगे।...दुअन्नी है? तो क्या हुआ ये छे पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब?...मिल गये पैसे! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई! अच्छा अब तो किसी को नहीं लेना है? सब ले चुके? तुम्हारी माँ के पास पैसे नहीं हैं! अच्छा, तुम भी यह लो।....अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

(३)

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया—फिर, वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है और आदमी कैसा भला जान पड़ता है!

समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है । पेट जो कराये सो थोड़ा ।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर निकट की दूसरी गली से सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला !

रोहिणी इसे सुनकर मन-ही-मन कहने लगी—"स्वर कैसा मीठा है इसका !"

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं । महीने-के-महीने आये और चले गये, पर मुरलीवाला न आया । फिर धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण होती गई ।

(४)

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे । रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानुविलम्बित केश-राशि सुखा रही थी । इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला ।

मिठाईवाले का यह स्वर परिचित था, झट से रोहिणी नीचे उतर आई । इस समय उसके पति मकान में नहीं थे । हाँ, उनकी वृद्धा दादी थी । रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिये मिठाई लेनी है । जरा कमरे में चलकर ठहराओ तो । मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो । जरा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी ।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोली—"ए मिठाईवाले, इधर आना ।"

मिठाईवाला निकट आ गया । बोला—"माँ, कितनी मिठाई दूँ ? नयी तरह की मिठाइयाँ हैं; रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी और जायकेदार । बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं । जल्दी नहीं घुलतीं । बच्चे बड़े चाव से चूसते हैं । इन गुणों के सिवा ये खाँसी को भी दूर

करती है। कितनी दूँ ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।"

दादी बोली—"सोलह तो बहुत कम होती हैं; भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला—"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं आपको क्या..........। खैर, मैं अधिक तो न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—"दादी, फिर भी काफ़ी सस्ती दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार पैसे की दे दो। अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव मुझे तो अब ज्यादा करना भी नहीं आता।"—कहते हुये दादी के पोपले मुँह की ज़रा-सी मुस्कराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आये थे, या पहली ही बार आये हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया—"पहली बार नहीं; और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—"पहले यही मिठाई बेचते हुये आये थे या और कोई चीज़ लेकर ?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था; और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिये अस्थिर-अधीर हो उठी। वह बोली—"इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा ?"

वह बोला—"मिलता तो क्या है, यही खाने-भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, सन्तोष और धीरज और कभी-कभी असीम सुख ज़रूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूँ।"

"सो कैसे ? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ में उन बातों की चर्चा क्यों करूँ। उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूं। तुम्हारा हर्जा न होगा। और भी मिठाई मैं ले लूँगी।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—

"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ था। स्त्री थी, छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का। स्त्री सुन्दर थी, मेरा प्राण थी। बच्चे ऐसे सुन्दर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति—विधाता की लीला! अब कोई नहीं है। दादा, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिये अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ; वे सब अन्त में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर कहीं-न-कहीं तो जन्मे ही होंगे। उस तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस-खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है। आपकी दया से पैसे तो काफ़ी हैं। जो नहीं है इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गये। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—"अम्मा, मिठाई।"

"मुझसे लो"—कहकर तत्काल कागज़ की दो पुड़ियों में मिठाइयाँ भरकर मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिये।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई और कहा—"अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोली—"अरे अरे, न-न, अपने पैसे लिये जा भाई!"

किन्तु तब तक आगे सुनाई पड़ा, उसी प्रकार मादक मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला मिठाईवाला।"

'जबरदस्त का ठेंगा सिर पर' वह मारता भी है रोने भी नहीं देता। बाकर मृत पत्नी की धरोहर—स्नेहमयी बालिका--की आकांक्षापूर्त्ति के लिए मण्डी की धूल फांककर 'डाची' खरीद लाया। जब वह ला रहा था, मार्ग में उसके हृदय में कितनी मधुर कल्पनाएं और उमंगें थीं, परन्तु जागीरदार माल-मशीर के एक ही संकेत ने बाकर की सब उमंगों और कल्पनाओं पर पानी फेर दिया। सम्पत्तिशाली के संमुख जो साधारण खेल है वह गरीब की मौत बन जाता है।

जबरदस्ती और बेबसी का कितना अनोखा संघर्ष है।

'डाची' मनोवैज्ञानिक और मर्मस्पर्शी कहानी है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

जन्म १६१० ई० । निवासी जालन्धर ।

'अश्क' जी सन् ३३ से कहानी लिख रहे हैं। पहिले आप उर्दू में लिखते थे। प्रेमचन्द्रजी से परिचय हो जाने पर आप हिन्दी में लिखने लग पड़े। कहानीकार के अतिरिक्त आप कवि, नाटककार और उपन्यास लेखक भी हैं। कुछ एकांकी नाटक भी आपने लिखे हैं।

'अश्क' जी रोमैंटिक कहानीकार हैं। रोमैंटिक कहानी-लेखन में उन्हें अपने को व्यक्त करने में अधिक सफलता मिली है।

'अश्क' जी की कहानी का प्रधान गुण है अनुभूति की गहराई। पंजाब के हिन्दी कहानीकारों में आपका विशेष स्थान है।

: १२ :

डाची

'काट'[1]पी-सिकन्दर के मुसलमान जाट बाकर को अपने माल की ओर लालसा-भरी निगाहों से ताकते देखकर चौधरी नन्दू वृक्ष की छाँह में बैठे-बैठे अपनी ऊँची घरघराती आवाज़ में ललकार उठा—"रे-रे अठे के करे है[2] ?" और उसकी छः फुट लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गई और बटन टूटे होने के कारण मोटी

१—काट—दस बीस झुग्गियों का छोटा-सा गाँव।

२—अरे तू यहाँ क्या कर रहा है।

खादी के कुर्ते से उसका विशाल वक्षस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएँ दृष्टिगोचर हो उठीं।

बाकर तनिक समीप आ गया। गर्द से भरी हुई छोटी नुकीली दाढ़ी और शरबई मूँछों के ऊपर गढ़ों में धँसी हुई दो आँखों में निमिष-मात्र के लिए चमक पैदा हुई और ज़रा मुस्कराकर उसने कहा—"डाची[1] देख रहा था चौधरी, कैसी खूबसूरत और जवान है, देखकर भूख मिटती है।"

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी नन्दू का तनाव कुछ कम हुआ; खुश होकर बोला—"किसी साँड[2] ?"

"वह परली तरफ से चौथी।" बाकर ने इशारा करते हुए कहा।

ओकाँह[3] के एक घने पेड़ की छाया में आठ दस ऊँट बँधे थे, उन्हीं में वह जवान साँडनी अपनी लम्बी सुन्दर और सुडौल गर्दन बढ़ाये घने पत्तों में मुँह मार रही थी। माल मंडी में, दूर जहाँ तक नज़र जाती थी, बड़े-बड़े ऊँचे ऊँटों, सुन्दर साँडनियों, काली-मोटी बेडौल भैंसों, सुन्दर नगौरी सींगोंवाले बैलों और गायों के सिवा कुछ दिखाई न देता था। गधे भी थे; पर न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊँट ही थे। बहावलनगर के मरुस्थल में होनेवाली मालमंडी में उनका आधिक्य था भी स्वाभाविक। ऊँट रेगिस्तान का जानवर है; इस रेतीले इलाके में आमद-रफ्त, खेती-बाड़ी और बारबरदारी का काम उसी से होता है। पुराने समय में जब गाएँ दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे, तब भी अच्छा ऊँट पचास से कम में हाथ न आता था और अब भी जब इस इलाके में नहर आ गई है, पानी की इतनी क़िल्लत नहीं रही, ऊँट का महत्त्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊँट दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक पा जाते हैं और वाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम हाथ में नहीं आते।

१—डाची—साँडनी।
२—कौन सी डाची ?
३—एक वृक्ष-विशेष।

तनिक और आगे बढ़कर बाक़र ने कहा—"सच कहता हूँ, चौधरी, इस जैसी सुन्दरी साँडनी मुझे सारी मण्डी में दिखाई नहीं दी।"

हर्ष से नन्दू का सीना दुगना हो गया, बोला—"आ एक ही के इह तो सगळी फूटरी हैं। हूँ तो इन्हें चारा फलूँसी नीरिया करूँ[1]।"

धीरे से बाक़र ने पूछा—"बेचोगे इसे ?"

नन्दू ने कहा—"इठई बेचने लई तो लाया हूँ।"

'तो फिर बताओ, कितने को दोगे ?"—बाक़र ने पूछा।

नन्दू ने नख से सिख तक बाक़र पर एक दृष्टि डाली और हँसते हुए बोला—'तन्ने चाही जै का तेरे धनी बेई मोल लेसी[2] ?"

"मुझे चाहिए।"—बाक़र ने दृढ़ता से कहा।

नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मज़दूर की यह बिसात कि ऐसी सुन्दर साँडनी मोल ले, बोला—'तूँ की लेसी ?'

बाक़र की जेब में पड़े हुए सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने के लिए व्यग्र हो उठे, तनिक जोश के साथ उसने कहा—"तुम्हें इससे क्या, कोई ले; तुम्हें तो अपनी क़ीमत से गरज़ है, तुम मोल बताओ ?"

नन्दू ने उसके जीर्ण-शीर्ण कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे नूह के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए टालने की ग़रज़ से कहा—"जा-जा, तू इसी विशी ले आई, इंगो मोल तो आठ बीसी सूँ घाट के नहीं[3]।"

एक निमिष के लिए बाक़र के थके हुए, व्यथित चेहरे पर आह्लाद की रेखा झलक उठी। उसे डर था कि चौधरी कहीं ऐसा मोल न बता

१—यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर हैं, मैं इन्हें चारा और फलूँसी (जवारे और मोठ) देता हूँ।

२—तुझे चाहिए, या अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है !

३—जा, जा, तू कोई ऐसी-वैसी साँड ख़रीद ले, इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं।

दे, जो उसकी बिसात से ही बाहर हो; पर जब अपनी ज़बान से ही उसने १६०) बताये, उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। १५०) तो उसके पास थे ही। यदि इतने पर भी चौधरी न माना, तो दस रुपये वह उधार कर लेगा। भाव-ताव तो उसे करना आता न था, झट से उसने डेढ़ सौ के नोट निकाले और नन्दू के आगे फेंक दिये, बोला—"गिन लो, इनसे अधिक मेरे पास नहीं, अब आगे तुम्हारी मर्जी।"

नन्दू ने अन्यमनस्कता से नोट गिनने आरम्भ कर दिये; पर गिनती खतम करते ही आँखें चमक उठीं। उसने तो बाक़र को टालने के लिए ही मूल्य १६०) बता दिया था, नहीं, मंडी में अच्छी-से-अच्छी डाची भी डेढ़ सौ में मिल जाती और इसके तो १४०) पाने की भी कल्पना उसने स्वप्न में नहीं की थी; पर शीघ्र ही मन के भावों को छिपाकर और जैसे बाक़र पर अहसान का बोझ लादते हुए नन्दू बोला—"साँड तो मेरी दो सै की है, पण जा सग्गी मोल मियाँ तन्ने दस छाडियाँ[1]" और यह कहते-कहते उठकर उसने साँडनी की रस्सी बाक़र के हाथ में दे दी।

क्षणभर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया। यह साँडनी उसके यहाँ ही पैदा हुई और पली थी, आज पाल-पोसकर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुए उसके मनकी कुछ ऐसी हालत हुई, जो लड़की को सुसराल भेजते समय पिता की होती है। ज़रा काँपती आवाज़ में, स्वर को तनिक नर्म करते हुए, उसने कहा—"आ साँड सोरी रहेड़ी है, तूँ इन्हें रेहड़ में न गेर दई[2]।" ऐसे ही, जैसे श्वसुर दामाद से कह रहा है—मेरी लड़की लाडों पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना।

आह्लाद के परों पर उड़ते हुए बाक़र ने कहा—"तुम ज़रा भी चिन्ता न करो, जान देकर पालूँगा।"

१—साँडनी तो मेरी २००) की है; पर जा सारी कीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिये।

२—यह साँडनी अच्छी तरह रखी गई है, तू इसे यों ही मिट्टी में न रोल देना।

नन्दू ने नोट अङ्क में सँभालते हुए जैसे सूखे हुए गले को ज़रा तर करने के लिए घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा—मण्डी में चारों ओर धूल उड़ रही थी। शहरों की माल मंडियों में भी—जहाँ बीसियों अस्थायी नलके लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है—धूल की कमी नहीं होती; फिर रेगिस्तान की मंडी पर धूल का ही साम्राज्य था। गन्नेवाले की गंडेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोमचेवाले के दही-पकौड़ी पर, सब जगह धूल का पूर्णाधिकार था। घड़े का पानी टाँचियों द्वारा नहर से लाया गया था; पर यहाँ आते-आते वह कीचड़-जैसा गँदला हो गया था। नन्दू का ख़याल था कि निथरने पर पीयेगा; पर गला कुछ सूख रहा था। एक ही घूँट में प्याले को ख़त्म करके नन्दू ने बाकर से भी पानी पीने के लिए कहा। बाकर आया था, तो उसे गज़ब की प्यास लगी हुई थी; पर अब उसे पानी पीने की फुर्सत कहाँ? वह रात होने से पहले-पहल गाँव पहुँचना चाहता था। डाची को रस्सी पकड़े हुए वह धूल को जैसे चीरता हुआ चल पड़ा।

× × × ×

बाक़र के दिल में बड़ी देर से एक सुन्दर और युवा डाची ख़रीदने की लालसा थी। जाति से वह कमीन था। उसके पूर्वज कुम्हारों का काम करते थे; किन्तु उसके पिता ने अपना पैत्रिक काम छोड़कर मज़दूरी करना ही शुरू कर दिया था, और उसके बाद बाक़र भी इसी से अपना और अपने छोटे-से कुटुम्ब का पेट पालता आ रहा था। वह काम अधिक करता हो, यह बात न थी; काम से उसने सदैव जी चुराया था, और चुराता भी क्यों न, जब उसकी पत्नी उससे दुगुना काम करके उसके भार को बँटाने और उसे आराम पहुँचाने के लिए मौजूद थी। कुटुम्ब बड़ा नहीं था—एक वह, एक उसकी पत्नी और एक नन्हीं-सी बच्ची; फिर किसलिए वह जी हलकान करता? पर क्रूर और बेपीर विधाता—उसने उसे उस विस्मृति से, सुख की उस नींद से जगाकर अपना उत्तर-

दायित्व महसूस करने पर बाधित कर दिया, उसे बता दिया कि जीवन में सुख ही नहीं, आराम ही नहीं, दुख भी है, परिश्रम भी है।

पाँच वर्ष हुए उसकी वही आराम देनेवाली प्यारी पत्नी सुन्दर गुड़िया-सी लड़की को छोड़कर परलोक सिधार गई थी। मरते समय, अपनी सारी करुणा को फीकी और श्रीहीन आँखों में बटोरकर उसने बाक़र से कहा था—"मेरी रज़िया अब तुम्हारे हवाले है, इसे कष्ट न होने देना।"—और इसी एक वाक्य ने बाक़र के समस्त जीवन के रुख को पलट दिया था। उसकी मृत्यु के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गाँव से ले आया था और अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम अभिलाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था।

वह दिन-रात काम करता था, ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को, अपनी उस नन्हीं-सी गुड़िया को, भाँति-भाँति की चीज़ें लाकर प्रसन्न रख सके। जब भी कभी वह मंडी को आता, तो नन्हीं-सी रज़िया उसकी टाँगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसके गर्द से अटे हुए चेहरे पर जमाकर पूछती—"अब्बा, मेरे लिए क्या लाये हो?" तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौनों से उसकी झोली भर देता। तब रज़िया उसकी गोद से उतर जाती और अपनी सहेलियों को अपने खिलौने या मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ वर्ष की हुई, तो एक दिन मचलकर अपने अब्बा से कहने लगी—"अब्बा, हम तो डाची लेंगे; अब्बा, हमें डाची ले दो।" भोली-भाली निरीह बालिका! उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न ग़रीब मजदूर की बेटी है, जिसके लिए डाची ख़रीदना तो दूर रहा, डाची की कल्पना करना भी गुनाह है। रूखी हँसी हँसकर बाक़र ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला—"रज्जो, तू तो खुद डाची है।" पर रज़िया न मानी। उस दिन मशीर माल अपनी साँडनी पर चढ़कर अपनी छोटी लड़की को अपने आगे

बिठाये दो-चार मज़दूर लेने के लिए अपनी इसी काट में आये थे। तभी रज़िया के नन्हें से मन में हाथी पर सवार होने की प्रबल आकांक्षा पैदा हो उठी थी, और उसी दिन से बाक़र का रहा-सहा प्रमाद भी दूर हो गया था।

उसने रज़िया को टाल तो दिया था; पर मन-ही-मन उसने प्रतिज्ञा कर ली थी कि वह अवश्य रज़िया के लिए एक सुन्दर-सी हाथी मोल लेगा। उसी इलाक़े में जहाँ उसकी आय की औसत साल-भर में तीन आने रोज़ाना भी न होती थी, अब आठ दस आने हो गई। दूर-दूर के गाँव में अब वह मज़दूरी करता। कटाई के दिनों में वह दिन-रात काम करता—फ़सल काटता, दाने निकालता, खलियानों में अनाज भरता, नीरा डालकर भूसे के कुप बनाता, बिजाई के दिनों में हल चलाता, पैलियाँ बनाता, बिजाई करता। इन दिनों में उसे पाँच आने से लेकर आठ आने रोज़ाना तक मज़दूरी मिल जाती। जब कोई काम न होता, तो प्रातः उठकर आठ कोस की मंज़िल मारकर मंडी जा पहुँचता और आठ-दस आने की मज़दूरी करके ही वापस लौटता। इन दिनों में वह रोज़ छः आने बचाता आ रहा था। इस नियम में उसने किसी तरह की ढील न होने दी थी। उसे जैसे उन्माद-सा हो गया था। बहन कहती—"बाक़र, अब तो तुम बिलकुल ही बदल गये हो, पहले तो तुमने कभी ऐसी जी तोड़कर मेहनत न की थी।"

बाक़र हँसता और कहता—"तुम चाहती हो, मैं आयु भर निठल्ला रहूँ?"

बहन कहती—"निकम्मा बैठने को तो मैं नहीं कहती; पर सेहत गँवाकर धन एकत्रित करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती।"

ऐसे अवसर पर सदैव बाक़र के सामने उसकी मृत पत्नी का चित्र खिंच जाता, उसकी अन्तिम अभिलाषा उसके कानों में गूँज जाती। वह आँगन में खेलती हुई रज़िया पर एक स्नेह-भरी दृष्टि डालता और विषाद से मुस्कराकर फिर अपने काम में लग जाता। और आज—बेक

वर्षों की कड़ी मशक्कत के बाद वह अपनी चिर-संचित अभिलाषा को पूरी कर सका था। उसके एक हाथ में साँडनी की रस्सी थी और नहर के किनारे-किनारे चला जा रहा था।

शाम का वक्त था। पश्चिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को सोने का अन्तिम दान कर रही थीं। वायु में ठंडक आ गई थी, और कहीं दूर खेतों में टटिहरी टीहूँ-टीहूँ करती उड़ रही थी। बाक़र के मन में अतीत की सब बातें एक-एक करके आ रही थीं। इधर-उधर कभी-कभी कोई किसान अपने ऊँट पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था और कभी-कभी खेतों से वापस आने वाले किसानों के लड़के छकड़े में रखे हुए घास-पट्ठे के गट्ठों पर बैठे, बैलों को पुचकारते, किसी गीत का एक-आध बन्द गाते, या छकड़े के पीछे बँधे हुए चुपचाप चले आनेवाले ऊँटों की थूथनियों से खेलते चले जाते थे।

बाक़र ने, जैसे स्वप्न से जागते हुए, पश्चिम की ओर अस्त होते हुए अंशुमाली की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नज़र दौड़ाई। उसका गाँव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आनेवाली सांडनी को प्यार से पुचकारकर वह और भी तेज़ी से चलने लगा—कहीं उसके पहुँचने से पहले रज़िया सो न जाये, इसी विचार से।

× × ×

मशीर माल की काट नज़र आने लगी। यहां से उसका गाँव समीप ही था। यही कोई दो कोस। बाक़र की चाल धीमी हो गई और इसके साथ ही कल्पना की देवी अपनी रंग-बिरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्रपट पर तरह-तरह की तसवीरें बनाने लगी। बाक़र ने देखा, उसके घर पहुँचते ही नन्हीं रज़िया आल्हाद से नाचकर उसकी टाँगों से लिपट गई है और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आंखें आश्चर्य और उल्लास से भर गई हैं। फिर उसने देखा, वह रज़िया को आगे बिठाये सरकारी खाले (नहर) के किनारे-किनारे डाची पर भागा

जा रहा है। शामका वक्त है, ठंडी-ठंडी हवा चल रही है और कभी-कभी कोई पहाड़ी कौवा अपने बड़े-बड़े परों को फैलाये और अपनी मोटी आवाज़ से दो-एक बार काँव-काँव करके ऊपर से उड़ता चला जाता है। रज़िया की खुशी का वारपार नहीं। वह जैसे हवाई-जहाज़ में उड़ी जा रही है; फिर उसके सामने आया कि वह रज़िया को लिये बहावलनगर की मंडी में खड़ा है। नन्हीं रज़िया मानों भौंचक्की-सी है। हैरान और आश्चर्यान्वित-सी कई और अनाज के इन बड़े-बड़े ढेरों, अगिनत छकड़ों और हैरान कर देनेवाली चीज़ों को देख रही है। बाक़र साल्हाद उसे सबकी कैफीयत दे रहा है। एक दूकान पर ग्रामोफोन बजने लगता है। बाक़र रज़िया को वहाँ ले जाता है। लकड़ी के इस डिब्बे से किस तरह गाना निकल रहा है, कौन इसमें छिपा गा रहा है—यह सब बातें रज़िया की समझ में नहीं आतीं, और यह सब जानने के लिए उसके मन में जो कुतूहल है, वह उसकी आँखों से टपक पड़ता है।

वह अपनी कल्पना में मस्त काट के पास से गुज़रा जा रहा था कि अचानक कुछ ख़याल आ जाने से वह रुका और काट में दाखिल हुआ। मशीर माल की काट भी कोई बड़ा गाँव न था। इधर के सब गाँव ऐसे ही हैं। ज़्यादा हुए तो तीस छप्पर हो गये। कड़ियों की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाके में अभी नहीं। खुद बाक़र की काट में पन्द्रह घर थे, घर क्या झुँगियाँ थीं। मशीर माल की काट भी ऐसी ही बीस-पच्चीस झुँगियों की बस्ती थी, केवल मशीर माल का निवास-स्थान कच्ची ईंटों से बना था; पर छत उस पर की छप्पर की ही थी। मानक बढ़ई की झुँगी के सामने वह रुका। मंडी जाने से पहले वह यहाँ डाची का गदरा* (पलान) बनने के लिए दे गया था। उसे ख़याल आया कि यदि रज़िया ने साँड़िनी पर चढ़ने की ज़िद की, तो वह उसे कैसे टाल सकेगा, इसी विचार से वह पीछे मुड़ आया था। उसने

---

* गदरा—ऊँट पर बैठने की गद्दी।

नानक को दो-एक आवाज़ें दीं। अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया—"घर में नहीं हैं, मंडी गये हैं।"

बाक़र का दिल बैठ गया। वह क्या करे, यह न सोच सका। नानक यदि मंडी गया है, तो गदरा क्या खाक बनाकर गया होगा; लेकिन फिर उसने सोचा, शायद बनाकर रख गया हो। इससे उसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने फिर पूछा—"मैं साँडनी का पलान बनाने के लिए दे गया था, वह बना या नहीं ?"

जवाब मिला—"हमें मालूम नहीं।"

बाक़र का आधा उल्लास जाता रहा, बिना गदरे के वह डाची को क्या लेकर जाये। नानक होता तो उसका गदरा चाहे न बना सही, कोई दूसरा ही उससे माँगकर ले जाता, इस ख़याल के आते ही उसने सोचा, चलो मशीर-माल से माँग लें, उनके तो इतने ऊँट रहते हैं, कोई-न-कोई पुराना पलान होगा ही, अभी उसी से काम चला लेंगे, तब तक नानक नया गदरा तैयार कर देगा। यह सोचकर वह मशीर-माल के घर की ओर चल पड़ा।

अपनी मुलाज़मत के दिनों में मशीर-माल साहब ने काफ़ी धन उपार्जन किया था। जब इधर नहर निकली, तो उन्होंने अपने असर और रसूख से रियासत की ज़मीन ही में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे ज़मीन ले ली थी। अब रिटायर होकर यहीं आ रहे थे। राहक* रखे हुए थे, आय खूब थी और मज़े से जीवन व्यतीत हो रहा था। अपनी चौपाल में एक तख़्त-पोश पर बैठे वे हुक्का पी रहे थे—सिर पर श्वेत साफ़ा, गले में श्वेत कमीज़, उस पर श्वेत जाकेट और कमर में दूध जैसे रङ्ग का तहमद। गर्द से अटे हुए बाक़र को साँडनी की रस्सी पकड़े आते देखकर उन्होंने पूछा—"कहो बाक़र किधर से आ रहे हो ?"

बाक़र ने झुककर सलाम करते हुए कहा—"मंडी से आ रहा हूँ, मालिक !"

---

* मुज़ारा।

—"यह डाची किसकी है ?"

—"मेरी ही है मालिक, अभी मंडी से ला रहा हूँ।"

—"कितने को लाये हो ?"

बाक़र ने चाहा, कह दे आठ-बीसी को लाया हूँ। उसके ख़याल में ऐसी सुन्दर डाची २००) में भी सस्ती थी; पर मन न माना, बोला—"हजूर, माँगता तो १६०) था; पर सात बीसी ही में ले आया हूँ।"

मशीर-माल ने एक नज़र डाची पर डाली। वे खुद देर से एक सुन्दर सी डाची अपनी सवारी के लिए लेना चाहते थे। उनके डाची तो थी; पर पिछले वर्ष उसे सीमक हो गया था और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग तो दूर हो गया था; पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी। यह डाची उनकी नज़रों में खुब गई। क्या सुन्दर और सुडौल अंग है, क्या सफेदी-मायल भूरा-भूरा रङ्ग है, क्या लचलचाती लम्बी गर्दन है! बोले—"चलो, हम से आठ-बीसे ले लो, हमें एक डाची की ज़रूरत है, दस तुम्हारी मेहनत के रहे।"

बाक़र ने फीकी हँसी के साथ कहा—"हजूर, अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ!"

मशीर-माल उठकर डाची की गर्दन पर हाथ फेरने लगे थे—वाह! क्या असील जानवर है। प्रकट बोले—"चलो पाँच और ले लेना।"

और उन्होंने आवाज़ दी—"नूरे, अरे ओ नूरे!"

नौकर भैंसों के लिए पट्ठे कतर रहा था, गँडासा हाथ ही में लिये भाग आया। मशीर-माल ने कहा—"यह डाची ले जाकर बाँध दो! १६२) में, कहो कैसी है ?"

नूरे ने हतबुद्धि से खड़े बाक़र के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नज़र डाची पर डालकर बोला—"खूब जानवर है," और यह कहकर नौहरे की ओर चल पड़ा।

तब मशीर-माल ने अंटी से ६०) रुपए के नोट निकालकर बाक़र के हाथ में देते हुए मुसकराकर कहा—"अभी एक राहक देकर गया है,

शायद तुम्हारी ही किस्मत के थे, अभी यह रखो, बाक़ी भी एक-दो महीने तक पहुँचा दूँगा। हो सकता है, तुम्हारी किस्मत के पहले ही आ जायँ।" और बिना कोई जवाब सुने वे नोहरे की ओर चल पड़े। नूरा फिर चारा कतरने लगा था; दूर ही से आवाज़ देकर उन्होंने कहा—"भैंस का चारा रहने दो, पहले डाची के लिए गवारे का नीरा कर डाल, भूखी मालूम होती है।"

और पास जाकर साँडनी की गर्दन सहलाने लगे।

× × ×

कृष्णपक्ष का चाँद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों ओर कुहासा-सा छा रहा था। सिर पर दो-एक तारे निकल आये थे और दूर बबूल और ओकाँह के वृक्ष बड़े-बड़े काले-सियाह धब्बे बन रहे थे। फोग की एक झाड़ी की ओट में अपनी काट के बाहर बाक़र बैठा उस क्षीण प्रकाश को देख रहा था, जो सरकंडों से छिन-छिनकर उसके आँगन से आ रहा था। जानता था रज़िया जागती होगी, उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। वह इस इंतज़ार में था कि दिया बुझ जाय, रज़िया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाख़िल हो।

"पुलिस की सीटी" क्रान्तिकारी जीवन की सच्ची अनुभूति है। पग-पग भय, आतंक, भ्रम और संदेह की आशंका में डूबा रहता है।

क्रान्तिकारी की टोली में दीवारों के भी कान होते हैं। जरा-सा खटका भी कान खड़े कर देता है।

श्री "अज्ञेय" की यह कहानी क्रान्तिकारी-जीवन अनुभव गम्य "आप बीती" ही समझी जानी चाहिये।

"पुलिस की सीटी" में पंजाब के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कामरेड भगवती चरण की रावी वाली बम-विस्फोट की घटना से आक-
क मृत्यु का भी आभास है।

कहानी. में कल्पना ही नहीं सत्य भी है।

अज्ञेय

आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। अज्ञेय साहित्यिक नाम है। आप करतारपुर के निवासी हैं। रचनाओं में जीवन के कटु अनुभवों तथा समाज की वेदनाशील पीड़ाओं का अध्ययन है। आपने क्रान्तिकारी—आतंकवादी—के रूप में कारागार की काली कोठड़ी को भी पवित्र किया है।

आप लेखक होने के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि भी हैं। विश्व की विद्रोही आत्मा के सामने धर्म, समाज, विदेशी प्रभुत्व, भूख आदि शत्रु पहाड़ की भांति बाधक बनते हैं। विद्रोही समाज के निर्माण के लिए कैसे तड़पकर अपने ध्येय तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, इसका आपने बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है।

आपकी पहली रचना इलाहाबाद की स्काउट पत्रिका 'सेवा' में छपी। आपकी विपथगा, परंपरा, भग्नदूत इत्यादि रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं।

भाषा भावों के अनुरूप गंभीर है।

: १२ :

पुलिस की सीटी

सीटी बजी।

सत्य सड़क पर चलता-चलता एकाएक रुक गया, स्तब्ध, बिल्कुल निश्चेष्ट होकर खड़ा रह गया।

सीटी फिर बजी।

सत्य के हाथ-पैर काँपने लगे, टाँगे लड़खड़ा-सी गईं, उसे जान पड़ा, मानो अभी संसार अँधेरा हो जायगा, पृथ्वी स्थानच्युत हो जायगी—उसने सहारे के लिए हाथ आगे बढ़ाया। हाथ कुछ थाम नहीं सका, मुट्ठी भर उड़ती हुई हवा को अंगुलियों में से फिसल जाने देकर खाली ही रह गया, तब सत्य ने समझ लिया कि वह गिरेगा, गिरकर ही रहेगा। उसने आँखें बन्द कर लीं···

× × ×

एक साल पहले—

पार्क में सत्य धीरे-धीरे टहल रहा था। उसके हृदय में जो व्यग्रता भर रही थी उसे किसी तरह वह छिपा लेना चाहता था, लेकिन वह छिपती नहीं थी। इस पर उसका मन एकाएक झल्ला उठता था, क्योंकि वह तो क्रान्तिकारी है, उसकी तो पहली सीख ही यह है कि अपने उद्वेगों को प्रकट मत होने दो। जो आत्मिक शक्ति उद्वेग पैदा करना चाहती है उसे क्रिया-शक्ति में, कठोर कर्मठता में परिवर्तित कर दो। फिर उसी झल्लाहट से वह उद्वेग और भी प्रकट हो गया-सा जान पड़ता, और सत्य ज़रा तेज़ी से टहलने लग जाता···

विस्तृत हरियाली के परले पार से एक आदमी निकलकर सत्य की ओर आ रहा था। जब वह सत्य के बिल्कुल निकट आ गया, तब सत्य ने धीरे से कहा—"कहिए—"और फिर दोनों बाँह में बाँह डाले एक घने छायादार वृक्ष की ओर चल पड़े।

"क्या-क्या समाचार हैं?"

सत्य जल्दी-जल्दी अपनी बात कहने लगा। समाचार उसके पास अधिक नहीं थे, लेकिन इस मितभाषी, प्रचण्डकर्मा नेता चूड़ामणि के प्रति उसमें इतनी श्रद्धा थी कि उसके प्रत्येक आदेश को वह एक साँस में ही पूरा कर डालना चाहता था। अभी उसकी कोई बात पूरी नहीं हुई थी कि चूड़ामणि ने उसे टोककर शान्त किन्तु फिर भी न जाने क्यों

अधिकार भरे स्वर में कहा—"अच्छा, मेरे पीछे पुलिस है। मेरे यहाँ होने का तो पता था ही, आज एक आदमी ने शायद पहचान भी लिया है। पुराना दोस्त था। कुछ गड़बड़ हो सकती है?"

सत्य ने अचकचाकर कहा—"तो-?"

"मैं उसके लिये तैयार हूँ। तुम हो कि नहीं? तुम्हें अभी यहाँ से निकल जाने के लिए तैयार होना चाहिए।"

एकाएक सत्य को लगा कि पार्क में कहीं कुछ शंकनीय बात है। अकारण ही उसके मन में घिर गये होने का, थोड़ी-सी घबराहट का भाव उदित हुआ। जो लोग ख़तरे में रहते हैं वही इस तर्कातीत भावना को समझ सकते हैं—बल्कि वे भी सदा नहीं समझते। सत्य भी नहीं समझ सका कि वह ऐसा शंकित और कंटकित क्यों हो रहा है। उसने अनिश्चित स्वर में कहा,—"मुझे शक होता है कि कुछ गड़बड़ है—"

चूड़ामणि स्थिर दृष्टि से हरियाली के पार तीव्र गति से पेड़ों के झुरमुट की ओर जाते हुए एक मानवी आकार की ओर देख रहे थे। आँखें उधर गड़ाये हुए ही बोले,—"तुम्हें शक है, मुझे निश्चय है। उस आदमी को मैं जानता हूँ। अभी पाँच मिनट के अन्दर कुछ होगा। इधर आओ।"

चूड़ामणि उठकर पेड़ के तने की ओट हो गये। सत्य भी पीछे-पीछे हो लिया। इस तरफ़ पेड़ के पीछे एक पत्थरों की दीवार थी, दीवार के दूसरी ओर एक खाई जिसमें बरसाती पानी भरा हुआ था।

चूड़ामणि ने कहा—"अभी जो कुछ होनेवाला है उससे चौंकना मत। उसका संबन्ध मुझसे है—मुझी से है। तुम सुनो, तुम्हें क्या करना है और सुनकर जाओ। यहाँ से—"

तभी सीटी बजी। एक बार, दूसरी बार कुछ अधिक तीखी, फिर एक साथ कई सीटियाँ—वातावरण मानो अनेक साँपों की फुफकार से सजीव होकर चीख उठा हो।

चूड़ामणि ने अपने कपड़ों के भीतर से दो रिवाल्वर निकाले और

दोनों के चेम्बर जाँचकर सन्नद्ध होकर बैठ गये।

सत्य ने देखा, सामने एक झुरमुट की आड़ में तीन-चार व्यक्ति—छिपी-छिपी, दीख न सकनेवाली, किसी छठी इन्द्रिय से जानी जानेवाली गति—फिर इस्पात की नीली-सी चमक···

"मेरे ठीक पीछे खड़े रहो—पेड़ के इधर-उधर न होना।"

सत्य ने आज्ञा का पालन किया। सर्राती हुई एक गोली उसके पास से निकल गई।

"ठीक। शुरू है।"

एक और गोली। फिर एक साथ सनसनाती हुई कई गोलियाँ।

"अब मेरी बारी है।"

एक !

दो !

तीन !

दूसरी ओर से कराहने की आवाजें, और उसके बाद गोलियों की तीव्र बौछार।

"लो और।" चूड़ामणि ने भी तीन-चार फायर और किये।

"लो इसे भरो।" रिवाल्वर सत्य को थमाकर वे दूसरे रिवाल्वर से निशाना साधने लगे।

"हाँ, सुनो। तुम्हें यहाँ से सीधे कानपुर जाना होगा। वहाँ विश्वनाथ से मिलो। उसे एक पत्र देना है—मेरी बाईं जेब से निकाल लो—और कहना है कि इसमें दी हुई हिदायतों के अनुसार वह काम करे। पते भी इसी पत्र में दिये हुए हैं। पढ़ने की विधि वह जानता है।"

दो एक गोलियाँ चलाकर वे फिर कहने लगे—"वहाँ से फिर यहाँ लौटकर आना—पर बहुत जल्दी नहीं और गरिमा से मिलना। उसे मैं कह आया था कि जब तक मेरा आदेश न हो, वहाँ से टले नहीं। और अब-अब मैं आदेश देने नहीं जा सकूँगा।" उनकी हँसी बिल्कुल

खोलती थी। "उसे कहना, कि यहाँ से टल जाय लेकिन तुम उसे पहचान तो लोगे न ? एक ही बार देखा है—"

"हाँ।" सत्य को याद आ गया। गरिमा चूड़ामणि की बहन थी और विधवा थी। उसका पति चूड़ामणि के क्रान्तिकारी दल की ओर से किसी आक्रमण की तैयारी में अकस्मात विस्फोट हो जाने से मर गया था। वही उस आक्रमण का नेता था, इसलिये उसकी आकस्मिक मृत्यु से सब के हौसले पस्त हो गये थे। लेकिन गरिमा ने कहा - "उनका काम मैं पूरा करूँगी। और अगर उनके चले जाने से लोगों के हौसले टूट जायँगे, तो—तो मैं उनकी मृत्यु को अत्यन्त गुप्त रखूँगी। उसका किसी को पता भी नहीं लगेगा मैं अपने मन, वचन और कर्म के जोर से लोगों के सामने उन्हें जीवित रखूँगी। आप लोग इसमें मेरी सहायता करें।" सत्य ने गरिमा को केवल एक बार देखा था—पति के देहान्त के अगले दिन प्रातःकाल के समय। उस समय वह स्नान के उपरान्त एक ऐसा काम कर रही थी जिसके एक क्रान्तिकारिणी द्वारा किये जा सकने की बात सत्य ने कल्पना में भी नहीं देखी थी—वह माँग में सिन्दूर भर रही थी। सत्य ने जब जाकर उससे अपना सन्देश कहा था तब वह मुस्करा भी सकी थी...."

"पहचान लूँगा।" एक ही बार देखा है, पर वैसे दो बार दीखता कौन है ? लेकिन—

"क्या ?"

"लेकिन यदि मैं पहुँच न सका तो ?"

"सकना क्या होता है ? मैं कहता हूँ कि पहुँचना होगा, तो पहुँचना होगा। तुम्हें नहीं, मेरे सन्देश को। होना, न होना, संभव होना, यह आदमियों के साथ, जीवन के साथ है। कर्त्तव्य के साथ एक ही बात होती है—होना। चाहे किसी तरह, किसी के हाथ।"

गोलियों की बौछार फिर हुई।

"अच्छी बात; तो गरिमा से कह देना। यदि वह न माने कि तुम मेरा सन्देश लेकर आये हो, तो उसे याद दिलाना कि हरनौटा गाँव के पास उसने मेरी बाँह पर पट्टी बाँधी थी तो उसमें एक फूल भी बाँध दिया था। और वह फूल—"

फिर गोलियों की तीखी बौछार हुई। चूड़ामणि ने धीरे-धीरे निशाना साधकर उत्तर दिया। दूसरी ओर से फिर बौछार हुई। लेकिन गोलियों का शोर कराहने की आवाज़ों को छिपा न सका।

"इसे भरो—वह मुझे दे दो।"

सत्य चुपचाप दूसरे रिवाल्वर में कारतूस भरने लगा।

"और कितने राउंड हैं?"

"बाईस।"

"दस अलग करो।"

अनैच्छिक क्रिया से चलती हुई गोलियों के धड़ाके गिनते हुए सत्य ने चूड़ामणि की आज्ञा का पालन किया। गोलियाँ चलती रहीं। दूसरी ओर से फिर कराहने का स्वर आया और उसके बाद एकाएक गोलियों की तीखी उत्क्रुद्ध बौछार....

"हूँ। किसी अफ़सर के गोली लगी है।"

"कैसे?"

"देखते नहीं, कैसा क्रुद्ध और बेअन्दाज़ फायरिंग हो रहा है?"

"हूँ।"

क्षणभर की नीरवता, जिसे एक-आध गोली ने ज़रा-सा कँपा-सा दिया।

"इसे भरो। बाकी चार राउण्ड अपनी जेब में डाल लो।"

सत्य ने वैसा ही किया।

"बाकी बारह मेरे आगे रख दो।"

यन्त्र चालित-से सत्य ने यह आदेश भी पूरा किया।

"अब तुम्हारे जाने का वक्त आ गया—जाओ! उफ़!"

एक गोली चूड़ामणि की दाहिनी बाँह में कलाई से कुछ ऊपर लगी थी।

यह तो ठीक नहीं हुआ। ख़ैर। उन्होंने दूसरा हाथ सत्य की ओर बढ़ाया। "यह मेरा रिवाल्वर मुझे दो—यह खाली और कारतूस तुम ले जाओ—भागते-भागते भर लेना।"

"पर—"

इसकी अनसुनी करते हुए चूड़ामणि ने कहा—"यहाँ से पेड़ की आड़ रखते हुए उस दीवार के पास जाओ—वहाँ झाड़ी के पीछे झुककर गोली की मार से बाहर हो जाना। बस, फिर दौड़ना—निकल जाओगे।"

"पर आपको छोड़कर—"

"जाओ! कारतूस थोड़े हैं और मेरा बायाँ हाथ है। जाओ—मैं कहता हूँ—चले जाओ!"

सत्य अत्यन्त अनिच्छापूर्वक हटने लगा। झाड़ी के पास पहुँचकर उसने लौटकर देखा। रिवाल्वर में कारतूस भरते समय चूड़ामणि के एक और गोली लगी थी।

"भइया, प्रणाम।" भर्राई हुई आवाज़ में सत्य ने पुकारा—

"हूँ। अभी यहीं हो? मेरा आख़िरी फ़िल (fill) है।"

सत्य दीवार के नीचे पहुँच गया। अब उसे दौड़कर गोलियों की मार से बाहर निकल जाना ही शेष था। दौड़ने से पहले उसने एक बार फिर लौटकर देखा।

"गये?" चूड़ामणि एकाएक पेड़ की आड़ में से निकलकर खुले में आ गये थे, निशाना बाँधकर गोली चलाते हुए आगे बढ़े जा रहे थे।

कराहने की आवाज़ें—उसके ऊपर चूड़ामणि का दृढ़ निश्चय से गूँजता हुआ स्वर "और लो! और लो! और यह लो! सिर्फ़ आख़िरी राउंड मेरा है।"

चीखें। कराहने का स्वर। फिर और तीखी दर्द-भरी चीखें।

सत्य दौड़ा।

"और गरिमा से कहना वह फूल अभी तक मेरे पास है।"

भागते हुए सत्य ने गोली का एक दबा हुआ-सा स्वर सुना, मानो नली शरीर के बहुत नज़दीक रखकर रिवाल्वर चलाया गया हो। उसके बाद गोलियों की लगातार कई मिनट की तीखी बौछार···

फिर सीटियाँ, तीखी, कर्कश सीटियाँ···और खाई का एक छोटा-सा पुल, फिर सड़क का एक मोड़, और फिर नीरवता!

एकदम अखण्ड नीरवता—केवल उसके पैरों का 'धम्-धम्' और उसके हृदय का 'धक्-धक्—' स्पन्दन···

× × ×

सीटी फिर बजी, तीखी और कर्कश।

जितना ही सत्य का शरीर अवश जड़ित होता जाता था, उतना ही उसका मन अवश गति से दौड़ रहा था···

गरिमा की आँखें कैसे थीं? गति नहीं थी, ज्योति नहीं थी—थी एक भीषण जड़ता, एक सहसा रोमाञ्चित कर देनेवाली प्राणहीन स्थिरता। और वह वैसे ही निष्प्राण स्वर से सत्य की कही हुई बात का एक-एक वाक्य उसके पीछे दोहराती जा रही थी—एक अबोध पक्षी की तरह जिसे बोलने को ज़बान तो है लेकिन समझने को मस्तिष्क नहीं। 'पट्टी बाँधी थी, तो एक फूल भी बाँध दिया था।' हाँ, बाँध दिया था। 'कहा था, मेरे आदेश के बिना कहीं मत जाना।' हाँ, कहा था। "उससे कहना, वह फूल अभी तक मेरे पास है।" "आख़िरी राउंड···"।

हाँ, जब सत्य को जान पड़ा था कि अगर गरिमा कुछ देर भी और ऐसे रही, तो वह या अपना सिर फोड़ लेगा या उसे मार डालेगा—इतनी अमानुषी थी वह परिस्थिति—तभी उसकी आँखों में एक आँसू आया था। एक ही आँसू—दूसरा नहीं आया था, और पहला आँख से टपका नहीं था। लेकिन दुबारा उसने कहना चाहा था, 'राउंड मेरा है,' तब उसकी आवाज़ बदल गई थी, टूट गई थी—

आज एक साल बाद भी क्यों वह आँसू भरी आँख—

सीटी फिर बजी। अबकी बार सत्य के बहुत ही निकट। इतने निकट कि उसकी घबराहट दूर हो गई, हाथ-पैर काँपने बन्द हो गये, उसने आँखें खोलीं कि अब तो वह घिर ही गया, उसकी बारी आ ही गई; क्या हुआ एक साल बाद आई तो—क्या हुआ ऐसे घटनापूर्ण खिंचाव-भरे एक साल बाद आई तो।

लेकिन आज एक साल बाद भी क्यों वह आँसू भरी आँख—

× × ×

एक छोटा-सा लड़का सत्य के आगे खड़ा था। उसके हाथ में चमकता-सा कुछ था—

सत्य को एकाएक लगा कि वह बेवकूफ है—परले दर्जे का बेवकूफ, वज्र मूर्ख है—उसने हँसना चाहा लेकिन हँसी उसके गले के भीतर ही सूख गई। अपने आपको और भी अधिक बेवकूफ अनुभव करते हुए अटकती हुई ज़बानसे किसी तरह कहा—"ओ बच्चे तुम—तुम...."

बच्चे ने सीटी मुँह में डालते हुए सन्देह भरे स्वर में पूछा,—"क्या तुम-तुम ?"

'कष्ट का प्रतिदान' तीसरे दर्जे की रेल-यात्रा की कष्ट-कहानी है। एक परोपकारी प्रवृत्ति रखनेवाले व्यक्ति की अन्यमनस्कता, भावुकता, अनुभवहीनता का चित्रण है !

कहानी में बाह्य एवं अन्तर्जगत का सूक्ष्म, मार्मिक निरीक्षण है।

सियारामशरण गुप्त

(जन्म १८९५ ई०)

जन्म चिरगांव झाँसी में एक वैश्य परिवार में हुआ। आपके पिता कविता प्रेमी थे और स्वयं भी कविता करते थे। हिन्दी के आधुनिककाल के श्रेष्ठ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त आपके अग्रज हैं और बड़े भाई की भाँति आप भी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं।

आप सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न हैं। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा साहित्य के विभिन्न अंगों को आपने अपनी लेखनी से पुष्ट किया है।

आपको कहानी-कला से विशेष प्रेम है। आपकी कविताओं में भी कहानी के रूप की छाप होती है। आपकी कहानियाँ अनुभूतिपूर्ण---मर्मस्पर्शी होती हैं। आपकी रचना-शैली सुन्दर स्वाभाविक है। वाक्य छोटे-छोटे, भाषा शुद्ध हिन्दी होती है। आपकी लेखनी से प्रायः बोल-चाल के साधारण शब्दों का प्रयोग होता है।

: १४ :

कष्ट का प्रतिदान !

रामनारायण को स्टेशन पर गाड़ी के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। वे और गाड़ी एक ही साथ प्लेटफार्म पर पहुँचे।

कुली ने शिशु-पुत्र को गोद में लिये उनकी पत्नी गोमती और उन्हें असबाब के साथ ही भीतर डिब्बे में धकेल दिया। जिस तरह कपड़ों से ऊपर तक भरे हुए टीन के ट्रंक में तह किया हुआ एकाध कपड़ा रख-कर आसानी से ढक्कन लगा दिया जा सकता है, उसी तरह रेल के भरे हुए थर्ड क्लास के डिब्बे में चाहे जब चार-छे आदमी ठूंसे जा सकते हैं। गोमती को बेन्च पर बिठाकर, रामनारायण को अपने लिए जगह निकालने में बहुत दिक्कत नहीं हुई। वे बैठे, और सीटी देकर गाड़ी चल दी। मानो वह उन्हीं के बैठने की इन्तजार में खड़ी थी।

पत्नी को साथ लेकर रामनारायण को यह पहली यात्रा थी। घर में बड़ों के बीच में उन्हें अपना आनन्द-मिलन ओट के भीतर संकुचित सीमा में आबद्ध सा प्रतीत होता था, इसलिए आज घर से बाहर होते हुए भी वे प्रसन्न-वदन थे। बीच-बीच में इस प्रसन्नता पर अपने-आप लज्जित होकर वे उसे दबा देना चाहते थे। परन्तु कृत-कार्य न होते थे। जिस तरह चलती हुई पिचकारी के ऊपरी रन्ध्र को सहसा हथेली से दबा देने से जल इधर-उधर की अनजान सन्धियों में से जोर के साथ निकल पड़ता है, उसी तरह आज जरा-जरा सी बात पर उनका आनन्द फूटा पड़ता था। जिन लोगों ने बैठने के लिए उन्हें थोड़ी-सी जगह दी थी उनकी यह साधारण शिष्टता आज उन्हें बहुत अधिक जान पड़ी। 'आपको कष्ट तो नहीं हो रहा?' इत्यादि प्रश्नों के साथ शीघ्र उन्होंने मधुरालाप का रंग जमा दिया।

गोमती के लिए भी यह यात्रा कम आनन्द की न थी। चारों ओर आदमी ही आदमी होने पर भी इस समय वह अपने स्वामी को अपने निकटतर अनुभव कर रही थी। उसका शरीर आनन्द से कण्टकित हो रहा था मानो वह स्वामी के साथ अनन्त आकाश में वायुयान पर बैठ-कर विहार करने जा रही थी।

रामनारायण लोगों के साथ बातें कर रहे थे, गोमती ने खिड़की की ओर मुंह करके बाहर दृष्टि डाली। गाड़ी वन के बीच होकर जा रही

थी। वृक्ष पास-पास न थे फिर भी जान पड़ता था कि सब अपना सौन्दर्य दिखाने के लिये खिसक कर अभेद्य भीड़-सी करके एक के ऊपर एक गिर पड़ते हैं। मानो वन की समस्त शोभा और सौन्दर्य उसकी ओर दौड़े आ रहे हैं। बीच-बीच में खेतों पर काम करते हुए नर-नारी उत्सुक दृष्टि से गाड़ी की तरफ देखते हुए दिखाई देते। नया न होने पर भी आज यह सब उसके लिए नये से अधिक था। एक जगह घोड़ी के पीछे-पीछे उसका बच्चा जा रहा था। इतना छोटा 'घोड़ा' उसने पहले कभी न देखा था। शिशु का मुँह उस ओर करके उसने धीरे से कहा, 'देख, वह तेरा घोड़ा।' छोटा घोड़ा और उसके पीछे छोटे-से सवार की कल्पना करके वह हँस पड़ी।

गाड़ी कितने ही स्टेशनों पर रुककर उनके आदमियों को चढ़ाती उतारती हुई आगे बढ़ी आ रही थी। यात्रियों में देश की समस्याओं पर गंभीर विचार विनिमय हो रहा था। न जाने कितने प्रस्ताव उप-प्रस्ताव हो चुके थे। कितने ही नेताओं पर पुष्प-वृष्टि हो चुकी थी और कितनों ही की नेतागिरी की सनद जब्त। समाज-आन्दोलन के सम्बन्ध में वाद-विवाद का रूप उग्र हो उठा। स्वराज्य के विरोधी जिस तेजी से अपना पक्ष समर्थन कर रहे थे, उसे देखकर रामनारायण को आनन्दित ही होना चाहिये था। देश के भीतर ही इतना ओज और उत्साह संचित है फिर निराशा का काम क्या ? परन्तु वे उस उत्साह और ओज को परास्त करने के लिए प्राण-पण से लगे हुए थे।

धीरे-धीरे धीमी पड़कर गाड़ी एक छोटे स्टेशन पर रुक गई। गाड़ी की घड़घड़ाहट यात्रियों के वाक् युद्ध में मारू बाजे का काम कर रही थी। उसके बन्द होते ही तर्क और युक्तियों के शस्त्रास्त्र जहां के तहां छोड़कर लोग प्लेटफार्म पर दृष्टि डालने लगे। इस स्टेशन पर चढ़ने वाले यात्रियों की संख्या अधिक थी। अर्थात् व्यय की अपेक्षा आय का परिमाण बहुत अधिक था। यात्रीगण गठरी-पोटली लिये उठकर बदहवास होकर इस डिब्बे से उस डिब्बे की ओर दौड़ रहे थे। गाड़ी के लोग

डिब्बों के दरवाजों पर डटकर बाहर वालों के इस प्रचण्ड आक्रमण का वीरता के साथ सामना करने लगे। बाहर वाले अनुनय करते, विनय करते, जोर जबरदस्ती भी कर रहे थे। दृढ़-निश्चयी की भांति अन्त में विजय उन्हीं को प्राप्त हुई। डांट-फटकार करके गोलों की बौछार में निर्भयता-पूर्वक वे लोग गाड़ी पर सवार हो ही गये।

जिस समय यह संग्राम हो रहा था, रामनारायण ने विपक्षियों के एक दल को स्वयं बुलाकर भीतर चढ़ा लिया। जयचन्द्र के कार्य की यह विशुद्ध पुनरावृत्ति देखकर कुछ लोग उन पर बेहद बिगड़ उठे। एक बोला—'बस, हो चुका। बहुत देशभक्ति छांटने की जरूरत नहीं है। अब दरवाजा बन्द कर दीजिये।'

रामनारायण ने कहा—'भाई साहब क्रोध न कीजिए। अपने बेचारों की यह छोटी-सी सेवा भी आप सहन नहीं कर सकते तो फिर—'

'बस, बस, यह छोटी-सी सेवा आप अपने दौलतखाने शरीफ़ पर ही कीजिएगा। यहां आप किसी दूसरे का दम नहीं घोंट सकते।'

'अच्छा, लीजिये, लीजिये' कहकर दरवाजा बन्द करते हुए रामनारायण ने एक स्त्री को और भीतर चढ़ा लिया। सब लोगों के विरुद्ध काम करने के कारण गोमती मन-ही-मन पति पर खीझ रही थी। हिन्दुस्तानियों में ऐक्य न होने का ज्वलन्त उदाहरण उसके सामने था। सोच रही थी, दस आदमियों में मिलकर घण्टे भर बैठ सकते नहीं और चाहते हैं स्वराज्य।

युद्ध बन्द हो जाने पर भी अशान्ति—कोलाहल तुरन्त नहीं थम जाता। डिब्बे में बड़ी गड़बड़ मची हुई थी। उस तुमुल ध्वनि में रामनारायण ने सहसा सुना—'अरे मेरा लोटा।'

यह वही स्त्री थी, जिसे रामनारायण ने अभी-अभी चढ़ आने दिया था। उसके चेहरे पर हवाई उड़ रही थी। राजा को अपने राज-पाट जाने का भी इतना दुःख नहीं होता, जितना उसे अपना लोटा छूट जाने,का हो रहा था। उसने दरवाजे की ओर बढ़ने की चेष्टा करते

हुए कहा—'भैया, मुझे झट से उतर जाने दो। मेरा लोटा बाहर छूट गया है।'

रामनारायण ने दरवाजे की खिड़की से मुँह निकालकर बाहर देखा। पानी के नल के पास दूर एक जगह उसका लोटा अकेला पड़ा हुआ था। रामनारायण उसके उतरने के लिए दरवाजा खोलने लगे। लोगों ने समझा अब और किसी को चढ़ाना चाहते हैं। अनेक कण्ठ एक साथ गरज उठे—'मत खोलो, दरवाजा मत खोलो।'

रामनारायण ने सोचा—नीचे उतरकर यह फिर न आ सकेगी, इसलिए मैं ही इसका लोटा उठा लाऊँ। परन्तु छोटी श्रेणी के आदमियों के काम करने का उन्हें अभ्यास न था। फलत: मन में कुछ संकोच हुआ। एक क्षण में ही उन्होंने फिर सोचा—मुझे हाथ मुँह धोकर पानी भी तो पीना है। उनकी समस्या ही हल हो गई, मुँह हर्ष से प्रदीप्त हो उठा। उससे कहा—'ठहरो, मुझे पानी के लिए जाना है। लोटा मैं ही लेता आऊंगा।' कहकर वे तेजी से नीचे उतर गये।

रामनारायण स्वप्नाविष्ट से होकर सीधे नल के पास जा खड़े हुए। जो विचार हमारे मन में आते हैं वे अपनी मर्जी का काम हमारे द्वारा कब करा लेते हैं; यह बात बहुधा हमें मालूम भी नहीं होने पाती। लोटा उठाने की प्रधान बात उन्हें भूल गई। मुँह धोने के बहाने ने ही उन्हें अपनी ओर खींच लिया। उस समय नल पर कोई आदमी न था बिना बाधा के हाथ पैर धोकर आँखों छींटे दिये और कुल्ला करने लगे।

एकाएक गाड़ी की सीटी सुनकर वे चौंक पड़े, लोटा उठाकर गाड़ी की ओर दौड़े, उनका डिब्बा उनसे बहुत दूर था। दौड़ते-दौड़ते उन्होंने देखा—गाड़ी विशालतम अजगर की तरह रेंग रही थी, अब उन्हें पीछा करते देखकर भयङ्कर भक्-भक् के साथ तेज हो उठी। रामनारायण घबराहट में भूल गये, उनका डिब्बा कौन है। बाहर की छड़ पकड़कर एक डिब्बे के पैरदान पर खड़े हो गये। भीतर कुछ सिपाही थे, उनकी

फौजी हुंकार सुनकर उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। नीचे उतरकर वे फिर अपने डिब्बे की ओर दौड़े। गाड़ी तब तक अपनी अलस मन्थरता छोड़ चुकी थी। अचानक पीछे से एक जमादार ने उनका हाथ पकड़कर कहा—'बाबू, चलती गाड़ी में चढ़ने का हुक्म नहीं है।'

प्रयत्न करके भी रामनारायण उसके हाथ से न छूट सके। उन्होंने देखा—गाड़ी भक्-भक् करती हुई प्लेटफार्म पार कर गई। दूर तक रेल की पटरी दिखाई देती थी। वृक्ष-श्रेणियों के बीच में बने हुए लौह-पथ पर गाड़ी बढ़ी जा रही थी। उन्हें जान पड़ा, किसी ने उनका हृदय काटकर दो टुकड़े कर दिया है। मानो उन्हीं के ऊपर अपना प्रलय-चक्र चलाती हुई गाड़ी दौड़ रही है। भयङ्कर आँधी जिस तरह पीछे मुड़कर यह नहीं देखती कि कौन-सी बेल टूटी और कौन-सा पेड़ उखड़ा, उसी तरह धड़धड़ाती हुई गाड़ी को भी पीछे को देखने का अवकाश नहीं था। रामनारायण अपने को सँभाल न सकने के कारण वहीं मुरम बिछी हुई पृथ्वी पर धम से बैठ गये।

जब कोई भारी चोट लगती है, तब कुछ देर के लिए चेतना लुप्त हो जाती है, मानो वह उतने में जड़-कठोर होने का अभ्यास करती है। उस अभ्यास के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है यदि वह न हो तो कदाचित् चोट के कारण चलना कठिन हो जाय। रामनारायण को पहले मालूम हुआ कि पृथ्वी पैरों के नीचे से खिसक रही है। मानो दौड़कर रेल का पीछा करेगा। बाद में उन्हें यह याद न रहा कि वे कहाँ हैं। देखने वालों की दृष्टि में यद्यपि वे बेहोश नहीं हुए थे परन्तु कई क्षण किस तरह निकल गये, उन्हें इसका ज्ञान न हो सका।

क्षणिक तन्द्रा के अनन्तर वे चौंक-से पड़े। उन्हें जान पड़ा कि वे नींद में झप गये। गाड़ी की आवाज अभी उनके कानों तक पहुँच रही थी। उनकी मूर्खता की कुकीर्त्ति कालिमा की तरह इंजिन का धुआँ आकाश में विस्तृत होकर अभी फैल रहा था। फिर भी उन्हें जान पड़ा कि उन्होंने बहुत विलम्ब कर दिया है। दुर्दान्त-दस्यु देखते-देखते

उनका सर्वस्व छीनकर ले गया और वे निरीह पथिक की तरह खड़े-खड़े देखते रहे। न विरोध किया न पीछा ही।

अब जमादार के ऊपर क्रोध की दृष्टि डालते हुए गरजकर उन्होंने कहा—'क्योंजी, तुम हमें रोकने वाले कौन होते थे ? गाड़ी में तो मेरी स्त्री और बच्चा था।'

सब हाल सुनकर जमादार खेद प्रकट करने लगा। बोला—'मुझे क्या मालूम था कि ऐसी खराबी हो जायगी। बाबू, अभी उस दिन इसी तरह एक आदमी बिना टिकट गाड़ी पर चढ़ गया था कि पैर फिसल गया। सारा तन लोहू-लुहान हो गया और आगे के दो दांत टूट गये। इसी से कुछ सख्ती करनी पड़ती है। न करें तो नौकरी से निकाल दिये जायँ; अब पहले के-से रहमदिल अफसर कहां ? एक वाल्टन साहब थे—'

वाल्टन साहब की कीर्त्ति-कथा सुनने का उन्हें अवकाश न था।

अगला स्टेशन बारह मील दूर था। स्टेशनवालों की सलाह से रामनारायण ने वहां तक पैदल जाने का निश्चय किया, दूसरी गाड़ी के आने में अभी आठ घण्टे की देर थी। आगे के स्टेशनमास्टर को एक तार गोमती को उतार लेने के लिए देकर रेल की पटरी के बगल के मार्ग को वे चल पड़े।

सूर्य अस्त हो गया था। अन्धकार की संभावना थी और स्थान अपरिचित। फिर भी वे अपने पूरे वेग से चलने लगे।

उनके हृदय में बिच्छू के डङ्क की-सी वेदना हो रही थी। हाय ! बेचारी गोमती का क्या होगा ? वह कभी घर की देहली के बाहर नहीं हुई और मैंने आज उसे अपरिचितों के बीच छोड़ दिया। भैया ने कहा था—साथ में एक आदमी लिये जाओ।—मैंने नहीं माना। अब जब उनके पास मेरी इस मूर्खता का समाचार पहुँचेगा तब वे क्या कहेंगे ? डिब्बे में अकेली छूटकर गोमती ही क्या कह रही होगी ? यात्रियों को मैंने कितनी नई बातें सुनाईं। अब वही कितना व्यंग विद्रूप कर रहे

होंगे—अपनी सेवा तो अपने से बनती नहीं, दूसरे की सेवा करने चले थे।—यद्यपि चारों ओर सन्नाटा था, झींगुरों की अविच्छिन्न झंकार में संसार के सारे स्वर विलीन हो गये थे फिर भी उनके कानों में उस डिब्बे के यात्रियों का प्रचण्ड हास्य स्पष्टतः प्रवेश कर रहा था। उन्होंने फिर सोचा—कहीं गोमती वहां न मिली, किसी गुण्डे के चक्कर में पड़ गई तो—वे एकदम अवसन्न पड़ गये। पैर एक-एक मन के-से भारी हो उठे। फिर और कुछ न सोच सके। अपने बैठे हुए हृदय के साथ वे वहीं बीच पथ पर एक जगह बैठ गये।

चारों ओर निर्जन वन था। ऊपर आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। उनके प्रकाश में इतना ही दिखाई दे रहा था कि चारों ओर अन्धकार है और कुछ नहीं। थोड़ी देर के बाद उन्होंने फिर कहीं से बल संचय किया। उस ऊबड़-खाबड़ पथ पर पड़े हुए प्रस्तर-खण्डों पर पैर रखते हुए, उन्हीं जैसे कठोर होने की चेष्टा करते हुए वे फिर चलने लगे।

लगभग आधी रात के समय रामनारायण उस स्टेशन पर पहुँचे। सीधे मुसाफिरखाने में चले गये। वहां यात्रीगण जागते हुए किसी-किसी विषय पर मनोयोग के साथ बातचीत कर रहे थे। एक आदमी से पूछा तो मालूम हुआ उन्होंने जिस गाड़ी में गोमती को छोड़ा था, वह तीन चार स्टेशन आगे दयालपुर के पास एक मालगाड़ी से लड़ गई है। दो डिब्बे चकनाचूर हो गये हैं और सैकड़ों आदमी हताहत। इस समाचार को सुनकर वे जहाँ-के-तहाँ, जैसे-के-तैसे खड़े रह गये। मुसाफिरखाने में उन्हें गोमती नहीं दिखाई दी। फिर भी उन्होंने अपने को संभालकर देखा। यदि छोटी-सी सुई होती, तो वह उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से अगोचर न रहती, परन्तु वह गोमती थी उन्हें वहां उसका पता न चला।

जिस तरह बानरी मरे हुए बच्चे को भी छाती से चिपकाए रहती है, उसी तरह मनुष्य नष्ट हुई आशा को भी नहीं छोड़ना चाहता। यद्यपि रामनारायण के मन में निराशा ने अपना पूरा अधिकार जमा लिया था, फिर भी गोमती को देखने के लिए वे स्टेशन के भीतर घुसे।

प्लेटफार्म की लालटैन बुझी हुई थी। स्टेशनमास्टर के आफिस में एक लैम्प मन्द-मन्द प्रकाश कर रहा था। भरे बोरों की एक थाप पर स्टेशन के दो निम्न कर्मचारी लेटे हुए थे। ड्यूटी पर असिस्टेण्ट स्टेशनमास्टर थे। वे एक आराम कुर्सी पर सोने के ढंग से लेटे हुए थे। हाथ की छोटी लालटेन बगल में रखे हुए एक जमादार बैठा-बैठा निद्रा लेने का अभ्यास कर रहा था। रामनारायण के पैरों की आहट से वह चौंक पड़ा। उसने हाथ के इशारे से रामनारायण को बुलाया। बोला—

'तुम यहां भीतर कैसे चले आये? जाओ, बाहर मुसाफिरखाने में!' उसके अफसर लोग जिस भाव भंगी के साथ उसे हुक्म दिया करते हैं, जमादार ने उसे खूब अच्छी तरह आयत्त कर लिया था। बल्कि कहना यह चाहिये कि इस विषय में वह अपने गुरुओं से भी योग्य था। उसके अप्रत्याशित आचरण से चिढ़कर रामनारायण ने कहा—'हमें स्टेशनमास्टर से बहुत जरूरी काम है।'

धीमे स्वर में जितना भी जोर भर सकना संभव है उतना भरकर जमादार ने कहा—'बाबू सो रहे हैं। देखो, उधर मत जाओ, नहीं तो अच्छा न होगा। रात को कोई काम नहीं होता।'

इस समय किसी की बात पर बुरा मानने के योग्य रामनारायण के मन की अवस्था न थी। नरमी के साथ उन्होंने कहा—'शाम की पैसेन्जर गाड़ी से इस स्टेशन पर कोई स्त्री तो नहीं उतरी?'

'नहीं उतरी।'

'नहीं उतरी?'

'हां, नहीं उतरी, नहीं उतरी। ज्यादा शोर न करो। छोटे बाबू जग जायेंगे।'

कुछ सोचकर एकाएक तेजी के साथ पद-शब्द करते हुए वे स्टेशन-मास्टर के दफ्तर में घुस गये। कुर्सी के पास खड़े होकर जोर से बोले—'बाबू साहब! बाबू साहब!'

बाबू ने आंखें खोलकर इस तरह देखा, मानो वे लेटे ही थे, सोते न

हों। परिचित की तरह रामनारायण की ओर देखकर मुस्कराते हुए उन्होंने कहा—'अच्छा, आप आ गये। आपका तार तो आया था परन्तु आपने डिब्बे का नम्बर नहीं लिखा था।'

बाबू के मुँह पर समवेदना या दुःख का कोई चिह्न न देखकर रामनारायण का चित्त बिगड़ उठा। बोले—'मैं क्या यह सोचकर गाड़ी में सवार हुआ था कि ऐसी घटना हो जायगी, जो गाड़ी का नम्बर देख कर याद रखता ? आप लोग यदि हराम का ही न खाना चाहें तो बिना नम्बर के भी सब कुछ कर सकते थे।'

'खामोशी से बोलिए ! हम लोग आपके मातहत नहीं हैं। गलती करते हैं आप, दोष मढ़ते है हमारे मत्थे।'

इसी समय बाहर से आवाज आई—'अरे बाबू आ गये, बाबू आ गये।'

रामनारायण ने देखा—वही स्त्री है, जिसका लोटा लेने आकर इस विपत्ति में फंसना पड़ा है। पास आकर बोली—'चलिए बाबू, बहूजी के पास चलिए। वे आपके लिए घबरा रही हैं।'

रामनारायण मारे आनन्द के उछल पड़े। बोले—'उन्हें उतार लिया था ? कहाँ हैं ?'

'बड़े बाबू की कोठी (क्वार्टर) में हैं। बड़ा अच्छा हुआ बाबू, जो तुम गाड़ी पर नहीं चढ़ सके। वह गाड़ी तो बाबू दो-तीन स्टेशन आगे जाकर मालगाड़ी से लड़ गई। बच गये बाबू, बच गये। भगवान मालिक है—'

अब छोटे बाबू हँस पड़े। बोले—'इसने इतने जल्द समाचार सुनाकर सब गड़बड़ कर दिया। नहीं तो आज मीठा मुँह किये बिना इन्हें न छोड़ता। ख़ैर, मालूम तो भले आदमी होते हैं, अपना ऋण बिना चुकाये न रहेंगे।'

रामनारायण ने कृतज्ञता से झुककर कहा—'बाबू साहब, आज का ऋण तो मैं अपना सर्वस्व देकर भी नहीं चुका सकता। इस लोटे को ही

देखिए, इसे ऊपर तक मोहरों से भर दूं तो भी इसका पूरा मूल्य नहीं चुका सकता।'

छोटे बाबू से छुट्टी पाकर उस स्त्री के साथ रामनारायण ने स्टेशन-मास्टर के क्वार्टर में गोमती को देखा। उसके कपोलों पर उसके पूर्व रोदन का इतिहास स्पष्ट अङ्कित था। जाकर वे एकदम उससे लिपट गये। उसकी आंखों से झर-झर आनन्दाश्रु झरने लगे।

'प्रमदा और प्रमोद" भाई-बहन के मधुर स्नेह की झाँकी है। भाई बहन के लिए कष्टों के पहाड़ की छाती चीर कर भी बहन का जीवन सुखी बनाने के लिए कितना आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान कर सकता है ?

कहानी मंथर गति से रस-संचार करती हुई मनोरंजन की सृष्टि करती है।

बहन की निर्मल आत्मा का चित्रण कितना स्वाभाविक और मार्मिक है।

पृथ्वीनाथ शर्मा

आपका जन्म संवत् १९५९ में लाहौर में हुआ। पंजाबी कहानी लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। आप कुशल नाटककार व गद्यकार हैं। साहित्यिक विषयों में—विशेषतया कहानी-कला पर—आपका विशद अध्ययन है। आप की कहानियां व लेख मौलिक तथा प्रतिभा-युक्त होते हैं। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, सजीव और भाषा सरस एवं प्रांजल होती है।

आपकी रचनाएं हैं—पखड़ियां (कहानी) दुविधा (नाटक) अपराधी (नाटक)

: १६ :

प्रमदा और प्रमाद

१

टूटे-फूटे कमरे के एक कोने में मैली-सी चटाई पर बैठी वह आँसू भरे नेत्रों से एक चित्र देख रही थी। समय ने और उसके आँसुओं ने उस चित्र को बहुत कुछ फीका कर दिया था, परन्तु उसे मिटा न सके थे। चित्रित व्यक्ति की बड़ी बड़ी स्नेह-भरी आँखें, तीखी नाक, कोमल होंठ तथा प्रबल ठुड्डी अब भी साफ़ दृष्टिगोचर हो रही थी। उस चित्र के साथ एकान्त में वह कितना रो चुकी थी, कितना हँस चुकी थी, यही बैठी वह सोच रही थी कि किसी ने द्वार खोला। सामने उसकी नई पड़ोसिन रामेश्वरी, जिससे हाल ही में उसकी जान-पहचान हुई थी, खड़ी थी।

"आओ बहन ! बड़ी कृपा की।"—प्रमदा ने कहा।

रामेश्वरी द्वार पार करके उसके साथ हो ली और दोनों चटाई पर आ बैठीं। उनके पास ही चित्र पड़ा था। रामेश्वरी की दृष्टि अनायास उस पर पड़ गई। उठा कर देखती हुई पूछने लगी—"यह किसका चित्र है?"

"मेरे भाई का।"—प्रमदा ने जवाब दिया।

"बहुत पुराना मालूम देता है। आज कल ये कहाँ हैं?"

"कहाँ हैं? हैं भी या नहीं, इसका कुछ पता नहीं।"—प्रमदा का गला भर आया—"पिछले पन्द्रह वर्षों से ये नेत्र इनको देखने के लिए तरस रहे हैं।"

"परन्तु वे गये कहाँ थे?"—रामेश्वरी ने सहानुभूति-सूचक स्वर में प्रश्न किया।

"यदि यही पता लग जाय तो फिर बात ही क्या है?"

"क्या छिप कर गये थे?"

"हाँ।"

"परन्तु क्यों?"

"मुझ अभागिन को सुखी करने के लिये।"—उसने व्यंग की हँसी हँस कर कहा।

"अच्छा! परन्तु झगड़ा क्या था?"

"झगड़ा?"—प्रमदा ने ज़रा आश्चर्य से अपनी पड़ोसिन की ओर देखा—"झगड़ा कोई नहीं था। यह तो एक उच्च तथा कोमल हृदय का प्रेम-प्रदर्शन था।"

"प्रेम-प्रदर्शन? इसके लिये रास्ता खूब अद्भुत चुना गया।"

"अद्भुत था भी और नहीं भी।"—प्रमदा ने एक सर्द आह लेकर कहा—"यदि तुम सारी कहानी सुन लो तो शायद इसमें तुम्हें इतना अनोखापन न दीखे।"

"तो सुनाओ"—रामेश्वरी ने उत्सुकता से व्यग्र होकर कहा।

प्रमदा ने एक पुरानी-सी तिपाई पर पड़े हुए जापानी टाइमपीस की ओर देखा। दो बजे थे। उसके पति को दफ्तर से लौटने में अभी काफ़ी देर थी, इसलिए वह बिना किसी आपत्ति के सुनाने के लिए तैयार हो गई। बोली, "सुनो।"

२

"सुना था कड़कती हुई बिजली और गर्जते हुए बादलों में" उसने कहना आरंभ किया—"एक लेडी डाक्टर तथा दो नर्सों की सहायता से हम दोनों ने चिल्लाते हुए, इस संसार में आँखें खोली थीं। मैं कोई पन्द्रह बीस मिनिट बड़ी थी और मेरा भाई छोटा। माँ को तो होश न था, पर मेरे पिता उस समय कोठी के बरामदे में ज़रा बेचैनी से टहल रहे थे। ख़बर सुनकर भागते हुए अन्दर आये। फूल के समान कोमल तथा सुन्दर अपने दो प्रतिरूपों को देख कर वे आनन्द से विह्वल हो उठे। चारपाई पर झुककर बार-बार हमें चूमते हुए नहीं अघाते थे।"

"बालक का जन्म भी कितना लुभावना होता है।"—रामेश्वरी ने कहा और पूछा—"तुम्हारी कोठी कहाँ थी?"

"कोठी? क्या पूछती हो? उस ओर से तो गुज़रते हुए भी हृदय कट जाता है"—प्रमदा ने जवाब दिया—"आज तो वहाँ और भी बहुत अच्छी-अच्छी कोठियाँ हैं, परन्तु उन दिनों हमारी कोठी के बहुत दूर इधर-उधर एक भी वैसी कोठी न थी। आपने अवश्य देखी होगी। फ़िरोज़पुर रोड के गिर्जे के ठीक सामने है।"

"वह पीली-सी बड़ी कोठी तो नहीं?"—उसने ज़रा आश्चर्य से पूछा।

"हाँ वही"—प्रमदा एक ठंडी साँस लेकर कहने लगी—"मेरे पिता ने वह कोठी कितने चाव से बनाई थी, आपको क्या बताऊँ परन्तु समय के हेर-फेर से उसे इधर-से-उधर होते देर न लगी। ख़ैर उस समय मेरे पिता रेलवे के एक बहुत बड़े ठेकेदार थे। पानी की भाँति रुपया घर में आता था और पानी की भाँति ही बहाया जाता था। हम दोनों के लिए

अलग-अलग आया रखी गई । पाठ में दोनों के लिए अलग-अलग झूले डलवाये गये, और शाम की सैर के लिए एक-एक बग्घा-गाड़ी के अतिरिक्त एक मोटर केवल हम दोनों के लिए ख़रीदी गई । हमारे वस्त्र "पिटमैन" अथवा "रैंकन" की दुकान से बना करते थे, खिलौने विलायत से आते थे और आमोद-प्रमोद की कोई सामग्री ऐसी न थी जिसकी हमें कमी हो । हम उस सुनहले आकाश के पक्षी थे जो कवियों के काल्पनिक स्वर्ग का एक आवश्यक अंग होता है, जहाँ स्वच्छन्दता और आनन्द एक दूसरे से होड़ करते हैं । इसी भाँति लगभग बारह वर्ष बीत गये । एक दिन सहसा वह सब कुछ छू मंतर हो गया ।"

"मुझे ठीक याद है"—प्रमदा ज़रा रुककर फिर कहने लगी "उस दिन सोमवार था । दोपहर के ग्यारह बजे थे । मैं अभी स्कूल से लौटी ही थी । मोटर से उतर कर अपने कमरे की ओर जाने लगी तो पास वाले कमरे से पिता की आवाज़ आई । यह ज़रा आश्चर्य की बात थी । क्योंकि हमारे पिता शाम को पाँच बजे से पहले कभी घर नहीं आया करते थे । मैं ज़रा उत्सुकता से उस कमरे में घुस गई । वहां का दृश्य देखकर मैं डर गई । मेरी माता कमरे के एक कोने में खड़ी रो रही थीं । पिता उनके निकट खड़े कोमल परन्तु भर्राये हुए स्वर में ढाढ़स देने की कोशिश कर रहे थे ।"

"क्या बात है ?"—मैंने माता से सहमे हुए स्वर में पूछा ।

"कुछ भी नहीं ।"—माता ने झटपट आँसू पोंछे ।

"पर आप रो क्यों रही हैं ?"

"माता ने कुछ जवाब न दिया, परन्तु पिता की ओर देखने लगीं । मानो उनसे कह रही हों कि मुझे इस लड़की के प्रश्नों से बचाओ । मेरे पिता ने मुसकरा कर मुझे अपनी ओर खींच लिया और झूठी हँसी हँस कर बोले—"पगली है, इसलिए रो रही है । तुम्हीं बताओ, ईंटों तथा मिट्टी के ढेर से ममता लगाने में लाभ ही क्या है ?"

"परन्तु फिर भी बात क्या है ?"—मैंने ज़रा व्यग्रता से पूछा ।

"यही कि हम कल दूसरे मकान में जा रहे हैं। जाओ अब कुछ जलपान करो। सुबह की भूखी है।"—यह कहते-कहते मेरे पिता ने मुझे कमरे से बाहर धकेल दिया। मेरे मन में कितने ही प्रश्न उठे परन्तु जिह्वा पर नाच कर रह गये। मैं चुपके से अपने कमरे की ओर चल दी।"

"परन्तु आपने कोठी छोड़ी क्यों?"—रामेश्वरी ने प्रश्न किया।

"निरन्तर घाटे पर घाटा खाने के कारण"—प्रमदा कहने लगी—"इस आशा में कि वे उखड़े हुए पग सँभाल लेंगे; मेरे पिता ने बाहरी आडंबरों में कमी न आने दी। परन्तु वे ऐसी फिसलनी धरती पर चल रहे थे जहाँ एक पग जमाना भी असंभव था। फल यह निकला कि कुछ ही देर के बाद ऋण तथा घाटे से पिस कर मेरे पिता को कोठी छोड़ने पर विवश होना पड़ा।"

"विधि के विधान ने ऋषि-मुनियों तक को न छोड़ा"—रामेश्वरी बीच में ही बोल उठी।

"विधि का विधान भी कितना टेढ़ा है।"—प्रमदा ने ज़रा कटु-स्वर में जवाब दिया—"ख़ैर, उपर्युक्त घटना के एक सप्ताह बाद हम चार छोटे-छोटे कमरों वाले एक नये मकान में आगये। मोटरें सब बेच दी गईं, एक नौकर के अतिरिक्त सब को जवाब मिल गया। भोग-विलास के सब सामान हवा हो गये। हमने ऐसा अनुभव किया मानो स्वर्ग की हरी-भरी फुलवारी—जहाँ पवन भी आनन्द के हिलोरें लेती थी—से निकलकर नरक के एक अँधेरे कोने में आ पड़े हैं। इसलिए आरंभ में तो सबको बहुत कष्ट हुआ, परन्तु कुछ काल के अनन्तर हमारे पिता शायद पुरुष होने के कारण और हम दोनों भाई-बहन शायद बच्चे होने के कारण परिस्थिति पर विजय पा गये। परन्तु हमारी माता इस धक्के से न सँभल सकीं। नये मकान में आते ही वे उदास और चिंता-मग्न रहने लगीं और कुछ ही दिनों में उन्हें हलका-हलका ज्वर आने लगा। इस बीमारी ने हमारी स्थिति को और भी शोचनीय बना

दिया। थोड़े ही दिनों में उस छोटे से मकान को छोड़ कर बाक़ी बचा-खुचा भी चुक गया। अब गुज़ारा और भी कठिन हो गया। पिता ने कई बार मकान बेचने की सोची, परन्तु हमारी माता न मानीं। ख़र्च को घटा-बढ़ा कर उन्होंने एक वर्ष और भी निभा ही दिया। तब तक हमारी अवस्था कुछ-कुछ सुधरने लग गई थी। पिता की आय ख़र्च की नई खींची हुई लकीरों से टक्कर लेने लगी थी। मकान के बिकने की चिंता जाती रही।"

"क्या आपकी माता ठीक हो गईं ?"—रामेश्वरी ने ज़रा उत्सुकता से पूछा।

"ठीक कहाँ ? चारपाई से लगे हुए भी कभी अच्छे हुए हैं ? हाँ, यह अवश्य हुआ कि मास में आठ-दस दिन चारपाई से उनका पीछा छूट जाता था।"—यह कहते-कहते प्रमदा रुक गई। नेत्र सामने दीवार पर जा लगे। मानो उस मिट्टी और चूने की मैली दीवार पर अपनी अभिमानिनी तथा कोमलांगिनी माता का रोग-ग्रस्त कृश शरीर तथा मुसकराते हुए होंठों का चित्र ढूँढ रही हो।

३

सहसा चौंक कर वह फिर कहने लगी—"इस भाँति चार वर्ष और बीत गये। मेरा भाई उन दिनों कालिज के पहले साल में पढ़ रहा था। एंट्रेंस तो हम दोनों ने इकट्ठा ही पास किया था, परन्तु इसके अनंतर मेरी पढ़ाई छुड़वा दी गई। क्योंकि उनकी सम्मति के अनुसार मैं विवाह के योग्य हो चुकी थी। मेरे लिये वर की तलाश होने लगी। पिताजी इधर-उधर मारे-मारे फिरने लगे। महीने में कई-कई दिन चक्कर काटने पर भी कहीं सफल न होते थे। जाते और निराश होकर लौट आते थे। क्योंकि अच्छे लड़के वालों के मिज़ाज बहुत चढ़े हुए थे। यद्यपि खुल-कर तो शायद कोई भी; कुछ न कहता था, परन्तु बातों-बातों में सभी अपने 'लाल' का दाम मांगते थे।

"क्यों ? इसी तरह एक दिन जब पिता वर की तलाश से लौटे

तो मेरी माता ने उत्सुक परन्तु निराश स्वर में चारपाई पर लेटे-लेटे पूछा।

"जब हाथ में रुपयों की थैली पकड़ कर जाऊँगा तभी काम बनेगा।"—पिता ने सूखी हँसी हँस कर कहा।

"यह युग स्वर्ण के लिए पागल क्यों हो उठा है। क्या उस चमकते हुए पीले द्रव्य के सिवाय कोई भी गुण इस संसार की दृष्टि में नहीं जँच सकता?"—तकिये से सिर उठाते हुए मेरी माता ने ज़रा जोश से कहा। बीमारी के कारण थकी हुई उनकी बड़ी-बड़ी आँखें प्रज्वलित हो उठीं—"मेरे ख़याल में एक ऊँची रास का हीरा ही इस संसार को सोने की डिबिया में रख कर दिये जाने पर ही स्वीकृत होगा। अन्यथा उसे यह कीचड़ में फेंक देगा। उफ़ कितनी मूर्खता है, कितना अन्धेर है!"

"तो फिर क्या किया जाय?"

"इस मकान को बेच डालो। किसी फूस की झोंपड़ी में रह लेंगे।" मेरी माता पूरी तरह उन्मत्त हो चुकी थीं।"

"यदि मकान बेच डाला तो लड़का घर-घर भीख माँगेगा।"

"और यदि न बेचा तो लड़की घर-घर चक्की पीसेगी।" मेरी माता ने विष से बुझे हुए स्वर में कहा। इसके आगे वह कुछ न कह सकीं। थक कर तकिये पर गिर गईं और सिसकियाँ भर कर रोने लगीं।

"हम दोनों भाई-बहन साथ वाले कमरे में बैठे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी यह सब कुछ सुन रहे थे, सब कुछ देख रहे थे। माता के अन्तिम वाक्य ने हम दोनों को विकल कर दिया। मेरा भाई उठकर लंबे-लंबे डग भरता हुआ कमरे से इधर-उधर उतावली से चलने लगा। लगभग पाँच मिनट के अनंतर वह रुका और मेरी ओर देखकर निश्चयात्मक परन्तु रुँधे हुए स्वर में बोला—"इस ज़रा सी ममता ने इनको दुविधा में डाल दिया है। प्रमदा, घबराओ मत, सब ठीक हो जायगा। मैं ऐसे-ऐसे कई मकान तुम पर निछावर कर सकता हूँ।"

"मैं कुर्सी के एक कोने में सहमी हुई बैठी थी। उस कोमल मूर्ति

के गोरे तथा भोले मुख पर दृढ़ता का भाव देख कर सब कुछ न समझती हुई भी मैं काँप उठी। क्या जाने उसने क्या निश्चय किया था। परन्तु उस समय उससे पूछने का साहस ही कहाँ था? क्षीण तथा करुणा भरी आवाज़ में कठिनता से केवल एक बार "भाई" कह सकी। मेरी आवाज़ सुनकर वह आँसू रोकता हुआ मेरे निकट आ गया और अत्यन्त प्यार से मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगा, मेरे बालों को सहलाने लगा। आह, आज इतने वर्षों के अनंतर भी जब ज़रा आँख झपकती है तो उसी स्नेह-भरे हाथ को उसी भाँति पीठ पर फेरते हुए और बालों से उलझते हुए पाती हूँ।"

यह कहते कहते प्रमदा रो पड़ी। आँसुओं का वेग सँभाले नहीं सँभला।

रामेश्वरी इस भावुकता को देखकर थोड़ी विस्मित परन्तु मुग्ध हो गई। इतने वर्षों तक हृदय के भाव को सींचने वाली उस अद्भुत देवी के प्रति उसका मन श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। बोली—"बहन, तुम धन्य हो।"

प्रमदा ने कुछ जवाब न दिया। अपने अतीत के भावों में वह इस भाँति बह रही थी कि रामेश्वरी का सीधा सा वाक्य सुन कर भी समझ न पाई। पूछने लगी—"क्या कहा था आपने बहन?"

"आपकी भावुकता की प्रशंसा कर रही थी।"

"भावुकता की प्रशंसा?"—प्रमदा ने व्यंग्य भरे स्वर में कहा—"मैं तो भावुकता को एक अवगुण समझती हूँ। इसके द्वारा मुझे कितना कष्ट मिला है, यह आपको क्या बताऊँ।"

यह कह कर प्रमदा फिर चुप हो गई। कमरे की पश्चिमी खिड़की ज़रा सी खुली थी। उसी में से धूप की एक लकीर कमरे में प्रविष्ट हो परमाणुओं के साथ नाच रही थी। वह उधर ही टकटकी बाँधे देखने लगी। क्या परमाणुओं के हृदय की धड़कन भी हमारी भाँति सुख और दु:ख से खेलती है, यही शायद वह सोचने लगी थी।

४

"फिर ?" प्रमदा को वैसे ही बैठे हुए जब लगभग पांच मिनिट बीत गये तो रामेश्वरी ने पूछा।

"फिर क्या" अपने को सँभालते हुए प्रमदा ने कहा—"इसके दूसरे दिन ही वह चल दिया।"

"चल दिया ! इतनी जल्दी बिना किसी से कुछ कहे ?"

"हाँ, परन्तु अपनी चारपाई पर काग़ज़ का टुकड़ा जिस पर उसके हाथ की लिखी केवल एक लाइन थी, अवश्य छोड़ गया।"

"क्या लिखा था उसमें ?"

"लिखा था कि आपकी दुविधा मिटाने के लिये तथा प्रमदा का भविष्य उज्ज्वल करने के लिये क्षमा चाहता हुआ आपके बन्धनों से मुक्त हो रहा हूँ"—प्रमदा कहने लगी—"मेरे पिता जो अभी तक स्थिति को पूर्णतया समझ नहीं पाये थे ये शब्द पढ़कर घबरा उठे।"

"क्या लिखा है ?" मेरी माता बेचैनी से पागल हो रही थीं।

'पिता ने कुछ जवाब न दिया। काग़ज़ का टुकड़ा उनके हाथ में पकड़ा कर आप सिर थाम कर पास पड़ी हुई चारपाई पर बैठ गये। माता काग़ज़ पर लिखे हुए वे थोड़े से शब्द उतावली से पढ़ गईं। फिर कमरे के एक कोने में खड़ी काँपती हुई मुझ अभागिन की ओर देखने लगीं और कुछ क्षण तक वैसे ही खड़ी रहीं। क्या जाने उनके मन पर उस समय किन भावों का आधिपत्य था। सहसा मेरी ओर से मुँह मोड़कर उन्होंने अपने पति की ओर दृष्टि डाली, "क्या सोच रहे हो ?"

"प्रमोद के इस कार्य में कितनी वीरता है और कितनी मूर्खता है, इसे आँकने का यत्न कर रहा हूँ"—उन्होंने क्षीण आवाज़ में जवाब दिया।

"मूर्खता ?" अब तक मेरी माता पर आँसू विजय पा चुके थे। —"बलिदान के पवित्र मन्दिर में मूर्खता ढूँढ रहे हो ? बलिदान की अग्नि में जल कर बड़ी-से-बड़ी मूर्खता भी वीरता में परिणत नहीं हो

जाती क्या ? मुझे तो खेद है कि प्रमोद की माता होती हुई भी मैं उस देवात्मा को पहिचान न सकी।" यह कहते-कहते उनकी आवाज़ बिलकुल टूट गई। वह भी अपने पति के पास चारपाई पर बैठ गईं। उस समय दिन पूरी तरह नहीं निकला था इस लिए चारों ओर सन्नाटा था। हाँ, कभी-कभी हवा का एक झोंका हम तीनों की लोखली हुई साँसों से छेड़-छाड़करके स्थिति में और भी खीझ पैदा कर देता था। बहुत देर तक हम ज्यों के त्यों बने रहे, फिर सहसा मेरे पिता चारपाई से उठ खड़े हुए और बोले, "मैं ज़रा उसे ढूँढने जा रहा हूँ।"

"परन्तु कहाँ ?" मेरी माता ने चिंतित स्वर में पूछा—"देखना कहीं···"

"घबराओ मत। मैं पागल थोड़े ही हूँ।" मेरे पिता ने ढाढ़स देते हुए जवाब दिया—"दस बजे तक अवश्य लौट आऊँगा।"

पिता अपने वादे के पक्के निकले, वह नौ बजे ही वापिस आ गये।

"क्या कुछ पता चला ?" रामेश्वरी ने प्रश्न किया।

"नहीं, जान-बूझकर छिपने वाले को भला कौन ढूँढ सकता है। इसके अनंतर भी हम अखबारों द्वारा प्रमोद का पता लगाने का यत्न करते रहे, परन्तु व्यर्थ। कुछ दिनों के अनंतर हम पूर्णतया निराश होकर बैठ गये। अब फिर मेरे माता-पिता मेरी चिन्ता में लग गये। थोड़े ही दिनों की दौड़-धूप के अनंतर दहेज में मोटर देने का वायदा करके मेरे पिता ने मेरे लिए एक वर ठीक कर लिया। लड़का उन दिनों बी० ए० में पढ़ रहा था और उसके पिता एक सरकारी दफ्तर में नौकर थे। उनका मासिक वेतन तो शायद दो सौ रुपया से अधिक न था, परन्तु उनकी ऊपरली आमदनी की बहुत धाक थी और कहा जाता था कि उनके पास अतुल धन है। इसलिए यह जानते हुए भी कि अ बमकान का बिकना अनिवार्य है, मेरे पिता फिसल पड़े।"

"भला से हम कष्ट में रह लेंगे, परन्तु प्रमदा तो सुखी हो जायगी !"—सगाई के बाद मेरे पिता ने माता से कहा।

"बच्चों की ममता भी माता-पिता से क्या नहीं करवाती, क्या क्या नहीं छुड़वाती"—रामेश्वरी बीच में बोल उठी।

५

"विवाह के कुछ ही दिन बाद मुझे पता चल गया कि मेरे पिता धोखा खा गये थे"—प्रमदा ने फिर आरंभ किया—"मेरे श्वसुरजी की ऊपरली आमदनी का कोई अस्तित्व न था। मुझे तो कहते हुए भी लज्जा आती है कि वह हमारे जैसे भोले-भालों को फँसाने के लिए गढ़ी हुई एक कहानी-मात्र थी। परन्तु दो सौ रुपये मासिक में वे कैसे बढ़िया मकान, दो-तीन नौकर, और घोड़ा-गाड़ी रख सकते थे, यही मुझे चकित कर रहा था। बहुत ज़ोर मारने पर भी मैं इसका रहस्य न समझ सकी। बातों-बातों में सब से पूछा, परन्तु सभी मेरे प्रश्नों को कानों के घाट उतारने से पहले ही शब्दों के जाल में फँसाकर तोड़-मरोड़ कर इधर-उधर फेंक देते थे। आखिर एक दिन कचहरी के चपरासी ने यह गुत्थी भी सुलझा दी।"

"क्या क़र्ज़े पर तो नहीं रह रहे थे?"—रामेश्वरी ने पूछा।

"क़र्ज़े पर नहीं तो और क्या?" प्रमदा ने जवाब दिया—"और क़र्ज़ा भी उनके ऊपर इतना अधिक था कि कई वर्ष निरंतर सँभालने पर भी उसका सँभलना असंभव था। फल यह निकला कि नौकरी से हाथ धोना पड़ा और दिवाले की शरण लेकर जेल जाते-जाते बचे। मेरे पिता ने जब यह सुना तो क्रोध और दुःख से विकल हो उठे। और मेरी माता के लिए तो यह चोट असह्य हो गई। इसके एक सप्ताह के बाद ही वह उस पार हो गईं।" यह कहते-कहते प्रमदा के नेत्र जिन में अभी तक पहले आँसू भी सूख नहीं पाये थे फिर छलछला उठे। वह बहुत देर वैसे ही बैठी रही। आखिर आवाज़ को सँभालती हुई बोली—"मेरे पति को पढ़ाई छोड़ने पर विवश होना पड़ा और वे नौकरी की तलाश में इधर-उधर धक्के खाने लगे। कोई दो साल की दौड़-धूप के अनन्तर उन्हें तीस रुपये मासिक की नौकरी एक अंग्रेज़ी दुकान पर

मिल गई। आजकल वहीं हैं और अब साठ रुपये पाते हैं।"

"आप के पिता?"

"वे मेरी माता की मृत्यु के अनन्तर कठिनता से एक वर्ष तक जीते रहे!"

"और आपके सास-ससुर?"

"उनका देहान्त हुए आज दस वर्ष हो चुके हैं। आह, आज कहीं प्रमोद मिल जाय तो उसे बताऊँ कि जिस बात के लिए तू ने अपना सर्वस्व, अपने यौवन की उमंगों और अपने भविष्य के स्वप्नों को बलिदान किया था वह किस भांति मिट्टी में मिली है, आ उसे देख। परन्तु वह मिल ही कहां सकता है?"

"क्यों नहीं बहिन? बिछुड़े हुए कई बार बीस-पचीस वर्ष के अनन्तर भी मिले हैं। तुम्हारे भाई को गये तो अभी पन्द्रह वर्ष ही हुए हैं।"

रामेश्वरी अभी यह कह ही रही थी कि किसी ने बाहर दरवाज़ा बहुत ज़ोर से खटखटाया। प्रमदा ने आश्चर्य से घड़ी की ओर देखा। अभी तीन भी नहीं बजे थे, "यह इस वक्त कौन आ गया? कहीं आपका नौकर तो नहीं?"

"शायद।"

प्रमदा ने जाकर द्वार खोला तो चकित रह गई। सामने प्रमोद खड़ा था। वह बदला हुआ तो बहुत था, परन्तु बहन को अपना भाई पहचानने में बाधा क्षण भी न लगा। पागलों की भांति उछलकर उसके गले से जा चिपटी—"प्रमोद, प्रमोद" उसकी रेशमी नेकटाई पर नाक रगड़ती हुई बोली।

"हाँ प्रमदा"—दाहिने हाथ की अँगुलियों द्वारा प्यार से उसके बालों से खेलते हुए प्रमोद ने जवाब दिया।

"तुम किधर से आ निकले, तुमने अब तक मेरी सुध क्यों न ली? तुम कैसे रहे? कहाँ रहे?" प्रमदा ने प्रश्नों की बौछार कर दी।

"मैं तुम्हारे कष्ट दूर करने के लिए रुपये बटोर रहा था।"—प्रमोद ने मुसकराते हुए कहा।

"मेरे कष्ट······!"

"देखो मुझे कुछ मत बताओ"—प्रमोद बीच में रोककर बोला—"मैं सब कुछ जानता हूँ।"

"पर कैसे ?"

"अभी सब बताऊँगा। पर चलो पहले तुम्हारे पतिदेव को दफ्तर से ले आयें।"

प्रमदा उन्हीं मैले-कुचैले कपड़ों में बिना जूता पहने और बिना अंदर बैठी रामेश्वरी से छुट्टी लिये भागकर प्रमोद के साथ उसकी मोटर में जा बैठी।

प्रमदा द्वारा की हुई अपनी इस अद्भुत अवहेलना पर मुस्कराती हुई रामेश्वरी उठी और चुपके से अपने घर की ओर चल दी।

'कदम्ब के फूल' सास-बहू के आये दिन की गृह-कलह का स्वाभाविक चित्र है।

बात का बतंगड़ बनाना बूढ़ी सासों की अपनी विशेष कला है, जिससे आज की पढ़ी-लिखी बहुएँ बहुत घबरा जाती हैं। पर भामा का 'मुस्कराते हुए' सास के तीखे बाणों का उत्तर देना कितना सराहनीय और चातुर्य्यपूर्ण है।

सम्भव था झगड़ा बढ़ जाता किन्तु भामा के सहज युक्ति-पूर्ण और सच्चे प्रमाण ने कलह को हास्य में परिवर्तित कर दिया।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की यह कहानी नारी-जगत के अन्तर्जगत् का सूक्ष्म निरीक्षण का फल है।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

हिन्दी की प्रसिद्ध कवियित्री श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने काव्य-रचना में जिस प्रकार हिन्दी संसार में अपना एक स्थान बनाया है उसी प्रकार कहानियां लिखकर कथा-साहित्य में भी विशेषता प्राप्त कर ली है। इनकी 'बिखरे मोती रचना पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सेकसरिया पुरस्कार मिला है। आपकी कहानियों में सामयिक राष्ट्रीय आन्दोलन की छाप रहती है। समाज की आन्तरिक उथल-पुथल पर सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण करने में आपने सफलता प्राप्त की है। आपकी कहानियों के पात्र जीवित, चलते-फिरते तथा संसार के दैनिक जीवन के प्राणी होते हैं। उनके मानसिक द्वन्द्वों का चित्रण वास्तविक तथा हृदय पर छाप छोड़ जाने वाला होता है। आपकी रचना में कृत्रिमता का भास नहीं होता।

आप सहृदय, सरल, और मिलनसार थी।

आपके आकस्मिक निधन से हिन्दी जगत् की जो हानि हुई है उसकी पूर्त्ति असम्भव है।

: १६ :

कदम्ब के फूल

"भौजी ! लो मैं आया।"

"सब के आये ? कहाँ मिले ?"

"अरे ! बड़ी मुश्किल से ला पाया, भौजी !"

"तो मज़दूरी ले लेना।"

"क्या दोगी ?"

"तुम जो माँगो।"

"पर मेरी माँगी हुई चीज़ मुझे दे भी सकोगी ?"

"क्यों न दे सकूँगी ? तुम मेरी वस्तु मेरे लिये ला सकते हो तो क्या मैं तुम्हारी इच्छित वस्तु तुम्हें नहीं दे सकती ?"

"नहीं भौजी न दे सकोगी, फिर क्यों नाहक कहती हो ?"

"अब तुम्हीं न लेना चाहो तो बात दूसरी है, पर मैंने तो कह दिया कि तुम जो माँगोगे मैं वही दूँगी।"

"अच्छा अभी जाने दो, समय आने पर माँग लूँगा।" कहते हुए मोहन ने अपने घर की राह ली। दूर से आती हुई आभा की सास ने मोहन को कुछ दोने में लिये हुए घर के भीतर जाते हुए देखा था। किन्तु वह ज्योंही नज़दीक पहुँची मोहन दूसरे रास्ते से अपने घर की तरफ़ जा चुका था। वे मोहन से कुछ पूछ न सकीं; पर उन्होंने यह अपनी आँखों से देखा था कि मोहन कुछ दोने में लाया है, किन्तु क्या लाया है यह न जान सकीं।

२

घर आते ही उन्होंने बहू से पूछा—"मोहन दोने में क्या लाया था ?"

आभा मन ही मन मुस्करा कर बोली—"मिठाई !"

बुढ़िया क्रोध से तिलमिलाकर बोली—"इतना खाती है, दिन भर बकरी की तरह मुँह चला ही करता है, फिर भी पेट नहीं भरता ? बाज़ार से भी मिठाई मंगा-मंगा के खाती है ! अभी मैं न देखती तो क्या तू कभी बतलाती ?"

आभा—(मुस्कराते हुये) "तो बतलाती क्यों ? कुछ बतलाने के लिये थोड़ी ही मँगवाई थी ?"

"क्यों, क्या मैं घर में कोई चीज़ ही नहीं हूँ? अपने लिये तो मिठाई के लिए पैसे हैं। मैं चार पैसे दान-दक्षिणा के लिए माँगूँ तो सदा मुँह से ना ही निकलती है। तेरा आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है। क्या उसकी कमाई में मेरा कोई हक़ ही नहीं! मुझे तो दो वार सूखी रोटी छोड़कर कुछ भी न नसीब हो और तू मिठाई मंगा-मंगा के खाये! कर ले जितना तेरा जी चाहे। भगवान् तो ऊपर से देख रहा है वह तो सज़ा देगा ही।"

(मुस्कराते हुए) "क्यों कोस रही हो मां जी! मिठाई एक दिन खा ही ली तो क्या हो गया, अभी रखी है, तुम भी ले लेना।"

"चल रहने दे। अब इन मीठे पुचकारों से किसी और को बहकाना। मैं तेरे सब हाल जानती हूँ। तू समझती होगी कि तू जो कुछ करती है वह कोई नहीं जानता। मैं तो तेरी नस-नस पहिचानती हूँ। दुनिया में बहुत-सी औरतें देखी हैं; पर सब तेरे तले-तले।"

(मुस्कराते हुये) "सब मेरे तले-तले न रहेंगी तो करेंगी क्या? मेरी बराबरी कर लेना मामूली बात नहीं है, मैं ऐसी-वैसी थोड़े ही हूँ।"

"चल, चल, बहुत बड़प्पन न बघार, नहीं तो सब बड़प्पन निकाल दूंगी।"

आभा अब कुछ चिढ़ गई थी, बोली—"बड़प्पन कैसे निकालोगी मां जी, क्या मारोगी?" मांजी को और भी क्रोध आ गया, वह बोलीं—"मारूँगी भी तो मुझे कौन रोक लेगा? मैं गंगा को मार सकती हूँ तो क्या तुझे मारने में कोई मेरा हाथ पकड़ लेगा?"

"मारो, देखूँ कैसे मारती हो? मुझे वह बहू न समझ लेना जो सास की मार चुपचाप सह लेती हैं।"

"तो क्या तू भी मुझे मारेगी? बाप रे बाप! इसने तो घड़ी भर में मेरा पानी उतार दिया। मुझे मारने को कहती है। आने दे गंगा को मैं कहती हूँ कि भाई तेरी स्त्री की मार सह कर अब मैं घर में न रह

सकूँगी। मुझे अलग झोंपड़ा डाल दे; मैं वहीं पड़ी रहूँगी। जिस घर में बहू सास को मारने के लिये खड़ी हो जाय वहाँ रहने का धरम नहीं।" यह कहते-कहते मां जी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगीं।

भामा ने देखा कि बात बहुत बढ़ गई अतः वह बोली—"मैंने तुम्हें मारने को तो नहीं कहा मां जी! क्यों झूठमूठ कहती हो। हां, मैं मार तो चुपचाप किसी की न सहूँगी। अपने मां-बाप की नहीं सही तो किसी और की क्या सहूँगी?"

"चुपचाप न सहेगी तो मुझे भी मारेगी न? वही बात तो हुई। यह मखमल में लपेट-लपेटकर कहती है तो क्या मेरी समझ में नहीं आता।"

मां जी के ज़ोर-ज़ोर से रोने के कारण आसपास की कई स्त्रियां इकट्ठी हो गईं। कई भामा की तरफ सहानुभूति रखने वाली थीं, कई मां जी की तरफ़; पर इस समय मां जी को फूट-फूटकर रोते देखकर सब ने भामा को ही भला-बुरा कहा। सब मां जी को घेरकर बैठ गईं। भामा अपराधिनी की तरह घर के भीतर चली गई। भामा ने सुना, मां जी आसपास बैठी हुई स्त्रियों से कह रही थीं—"आप तो दोना भर-भर मिठाई मंगा-मंगाकर खाती है। और मैंने कभी अपने लिये पैसे-धेले की चीज़ के लिये भी कहा तो फ़ौरन ही टका सा जवाब दे देती है। कहती है, पैसा ही नहीं है। इसके नाम से पैसे आ जाते हैं और मेरे नाम से कंगाली छा जाती है। किसी भी चीज़ के लिये तरस-तरस के मांग-मांग के जीभ घिस जाती है, जब जी में आया तो ला दिया नहीं तो कुत्ते की तरह भूंका करो। यह मेरा इस घर में हाल है। आज भी दोना भर मिठाई मँगवाई है। मैंने ज़रा ही पूछा तो मारने के लिये खड़ी हो गई। कहती है, मेरे आदमी की कमाई है, खाती हूँ, किसी के बाप का खाती हूँ क्या? उसका आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है, उसका १२ आने हक है तो मेरा ४ आने तो होगा ही।"

पड़ोस की एक दूसरी बुढ़िया बोली—"राम राम, यही पढ़ी-लिखी

होशियार है ? पढ़ी-लिखी है तो क्या हुआ, अक़ल तो कौड़ी के बराबर भी नहीं है। तुमने नौ महीने पेट में रखा बहिन ! तुम्हारा तो सोलह आने हक़ है। बहू को, बेटा माँ के लिये लौंडी बनाकर लाता है, यह तुम्हारे पैर दाबने और तुम्हारी सेवा करने के लिये है। हमारा नन्दन तो जब तक बहू मेरे पैर नहीं दबा लेती, उसे अपनी कोठरी के अन्दर ही नहीं आने देता।"

"अपना ही माल खोटा है तो परखने वाले का क्या दोष, बहिन ! बेटा ही सपूत होता तो बहू आज मुझे मारने दौड़ती ?"

२

गंगाप्रसाद गाँव की प्राथमरी पाठशाला के दूसरे मास्टर की जगह के लिये उम्मीदवार थे। साढ़े सत्रह रुपये माहवार की जगह के लिये बिचारे दिन भर दौड़-धूप करते, इससे मिल, उससे मिल, न जाने किसकी-किसकी खुशामद करनी पड़ती थी, फिर भी नौकरी पाने की उन्हें बहुत कम उम्मीद थी। इधर वे कई मास से बेकार बैठे थे। भामा के पास कुछ ज़ेवर थे जो हर मास गिरवी रक्खे जाते थे और किसी प्रकार काट-कसर करके घर का ख़र्च चलता था। भामा पैसों को दांत तले दाबकर ख़र्च करती। सास और पति को खिलाकर स्वयं आधे पेट ही खाकर पानी से ही पेट भर कर उठ जाती। कभी दाल का पानी ही पी लिया करती। कभी शाक उबाल कर ही पेट भर लिया करती। रुपये-पैसों की तंगी के कारण घर में प्रायः रोज़ ही इस प्रकार कलह मची रहती।

जब गंगाप्रसाद जी दिन भर की दौड़-धूप के बाद थके-हारे घर लौटे तब शाम हो रही थी. आंगन में उनकी मां उदास बैठी थीं, बेटे को देखा तो नीचे आँख कर ली, कुछ बोलीं नहीं। गंगाप्रसाद अपनी माँ का बड़ा आदर करते थे। उनका बड़ा ख्याल रखते थे। जिस बात से उन्हें ज़रा भी कष्ट होता वह बात वे कभी न करते थे। मां को

उदास देखकर वे मां के पास जाकर बैठ गये, प्यार से मां के गले में बाहें डाल दीं; पूछा—"क्यों मां ! आज उदास क्यों है ? क्या कुछ तबियत खराब है ?"

"नहीं, अच्छी है ।"

"कुछ तो हुआ है मां ! आज तू उदास है ।"

अब मां जी से न रहा गया, फूट-फूट के रोने लगीं—"कुछ नहीं, मैं आदमी-औरत में लड़ाई नहीं लगवाना चाहती; बस इतना ही कहती हूँ कि अब मैं इस घर में न रह सकूँगी, मेरे लिये अलग एक झोंपड़ा बनवा दे वहीं पड़ी रहूँगी । जी में आवे तो खरच भी देना नहीं तो मांग के खा लूँगी ।"

"क्यों मां ! क्या कुछ झगड़ा हुआ है ? सच सच कहना !"

"आज ही क्या ? यह तो तीसों दिन की बात है ! तेरी घरवाली ने मोहन से मिठाई मँगवाई । वह दोना भर मिठाई मेरे सामने लाया । मैं ज़रा पूछने गई तो कहती है—हाँ मँगवाती हूँ, खाती हूँ, अपने आदमी की कमाई खाती हूँ, कुछ तुम्हारे बाप का तो नहीं खाती ? जब मैंने कहा कि तेरा आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है, उसकी कमाई में मेरा भी हक है । तो कहती है कि तुम्हारा हक जब था तब था''''अब तो सब मेरा है । ज्यादा बोलोगी तो मार के घर से निकाल दूँगी । तो बाबा तेरी औरत है, तू ही उसकी मार सह, मैं माँग के पेट भले ही भर लूँ पर बहू के हाथ की मार न खाऊँगी ।"

गंगाप्रसाद अब न सह सके—"वह तुझे मारेगी माँ ! मैं ही न उसके हाथ-पैर तोड़ कर डाल दूँगा ।"—कहते हुए वे हाथ की लकड़ी उठा कर बड़े गुस्से से भीतर गये । भामा को डाँटकर पूछा—"क्या मँगाया था तुमने मोहन से ?"

गंगाप्रसाद के इस प्रश्न के उत्तर में "कदम्ब के फूल थे, भैय्या !" कहते हुए मोहन ने घर में प्रवेश किया । तब तक भामा ने दोना उठा

कर गङ्गाप्रसाद के सामने रख दिया था। दोने में आठ-दस पीले-पीले गोल-गोल बेसन के लड्डुओं की तरह कदम्ब के फूलों को देखकर गङ्गाप्रसाद को हँसी आ गई।

मोहन ने दोने में से एक फूल उठाकर कहा—"कितना सुन्दर है यह फूल, भौजी!"

"अधूरा चित्र" कारुणिक, हृदयग्राही पौराणिक कहानी है।

कहानी में सीता की पावनता की ही परीक्षा नहीं बल्कि आदि-कवि वाल्मीकि की अमर वाणी—अमर काव्य—की भी परीक्षा है।

"अधूरा चित्र" आदि से अन्त तक अन्तस्तलको छूता हुआ करुणा, त्याग तपस्या और सरस-स्नेह की तस्वीर अङ्कित करता है।

श्रीमती कमला देवी चौधरी

श्रीमती कमला देवी चौधरी मेरठ की रहने वाली हैं। विशाल भारत पत्रिका तथा पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रोत्साहन से आप हिन्दी क्षेत्र में आई हैं। आपकी कहानियां अत्यन्त प्रभाव-शाली और सहृदयतापूर्ण होती हैं। आपने मानव-जीवन के अन्तर्जगत का तथा घर-गृहस्थी के वातावरण का चित्रण वास्त-विकता पूर्ण किया है। आप निरंतर कहानी-साहित्य का भण्डार भर रही हैं।

आप कुलीन तथा सुपठित महिला हैं। स्वभाव की सरल, सहृदय और सज्जन हैं।

आपकी भाषा सरल और सरस होती है।

आपके तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। पिकनिक, उन्माद तथा यात्रा।

: १७ :

अधूरा चित्र

महर्षि वाल्मीकि तीर्थ-यात्रा से लौटकर राम-नाम-गुणगान करते हुए अपने आश्रम में प्रविष्ट हुए, तो उन्होंने देखा—एक घनी लता की ओट में पत्थर की शिला पर मस्तक नत किये हुये बैठी सीता आज एकाग्रमन से कुछ लिख रही है। कुतूहलवश मुनि वाल्मीकि उसी ओर को चल दिये और चुपचाप सीता के पीछे खड़े होकर देखने लगे। सीता

के हाथ का बनाया हुआ एक अधूरा चित्र उसके सम्मुख है। हाथ में तूलिका लिये और चित्र में आँखें गड़ाये सीता बिलकुल स्तब्ध बैठी है। उस अधूरे चित्र के भावों में वह इस प्रकार डूब गई है कि उसे अपनी आंखों के आंसुओं की भी खबर नहीं है, जो लगातार झरने की भांति झर रहे हैं।

महर्षि सीता की तन्मयता में बाधा न देकर मनोयोग से चित्र का निरीक्षण करने लगे। अयोध्या के महाराज रामचन्द्र एक विशाल यज्ञशाला में बैठे यज्ञ कर रहे हैं। उनके बाएं पार्श्व में सीता की स्वर्ण-प्रतिमा शोभित है और उनके चारों ओर बैठे हुए विद्वान्, योगी, मुनि और पुरोहितगण सीता के पक्ष का सम्पूर्ण कार्य उस प्रतिमा द्वारा सम्पन्न करा रहे हैं। देश-देशान्तर के राजे-महाराजे, योगी-मुनि, देवता-राक्षस, वानर, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी आमन्त्रित होकर आये हैं। और इन सब ही की आंखों में स्वर्ण-प्रतिमा कुतूहल की वस्तु बन रही है। इसी एक विषय को लेकर मनन, चिन्तन, वार्तालाप, वाद-विवाद, काना-फूसी और शोक, उपहास-निन्दा सभी कुछ चल रहा है। विशेषकर स्त्रियों में ये कार्य बड़ी प्रबलता से चल रहे हैं। वृद्धा स्त्रियाँ बहू-बेटियों को पुरानी कथा सुनाकर स्वर्ण-प्रतिमा का इतिहास बता रही हैं। रावण के घर रहने के कारण सीता के चरित्र पर एक धोबी ने संदेह किया था, इसलिए रामचन्द्र ने सीता का परित्याग कर दिया; किन्तु उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। बिना स्त्री के भाग के यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकता, अतः सीता की स्वर्ण-प्रतिमा के साथ वे यज्ञ कर रहे हैं। यज्ञ-वेदी के समीप ही महर्षि वाल्मीकि के साथ सीता के दोनों पुत्र लव और कुश आश्चर्य-चकित-से कभी सजल नेत्रों से उस प्रतिमा को देखते हैं, कभी चारों ओर मुँह घुमाकर आकुल-दृष्टि से प्रत्येक के मन का भाव जानने की निष्फल चेष्टा करते हैं। जो काना-फूसी वे सुन रहे हैं, उससे वे दोनों बहुत ही व्याकुल और रुआँसे-से हो गये हैं। बड़े परिश्रम से वे अपने हृदय के आवेग को रोके हुए इस प्रतीक्षा में हैं कि कब महर्षि अपने

आश्रम में पहुँचें और कब वे उनसे अपने मन की शंका का समाधान करें। वहाँ का वातावरण उनके हृदय में एक रहस्य का आभास-सा करा रहा है, और वह आभास उनके कोमल-पवित्र हृदय में एक साथ हजार बिच्छुओं के दंशन-सी पीड़ा उत्पन्न कर रहा है। अथच धीर-गम्भीर बालक किसी प्रकार वह भारी मानसिक बोझ सँभाले बैठे यज्ञ-उत्सव देख रहे हैं। अन्तिम दृश्य यज्ञ-मण्डप से दूर वाल्मीकि के आश्रम का है। दोनों बालक एकान्त पाकर, विह्वल हो, मुनि के चरणों पर गिर पड़ते हैं और करुण चीत्कार करके मानो पूछते हैं—"बताओ, बताओ गुरुदेव, वह स्वर्ण-प्रतिमा क्या हमारी माता सीता की ही है? ये हमारे कान क्या अब तक यज्ञ-मण्डप में अपनी ही माता की निन्दा सुन रहे थे! बोलो गुरुदेव, बोलो, आपका महाकाव्य क्या हमारे ही माता-पिता के चरित्र का वर्णन है? वह अग्नि-परीक्षा और यज्ञशाला का यह वातावरण, हे गुरुदेव, इसमें क्या सत्य है और क्या असत्य...?"

यहीं पर सीता की तूलिका रुक गई है--मानो उसकी कल्पना-शक्ति ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया हो, मानो वह सीता के मनः-ताप का अनुभव करके भयभीत हो गई हो! इस ताप को शायद वह और प्रोत्साहन देना अब उचित नहीं समझती; कारण कहीं सीता के हृदय के दो टुकड़े न हो जायँ! और कल्पना-शक्ति के साथ ही सीता के तन-मन और प्राण इस समय स्तब्ध हो गये हैं। वह ताप अपनी प्रबलता के कारण हृदय के बाँध को तोड़कर आँखों की राह बह रहा है। उस प्रबलता की धारा का अनुभव करने तथा उसे रोकने-बाँधने की, सारी क्रियायें मानो निष्फल हो रही हैं। सारी शक्तियाँ मानो उसी वेग में बही चली जा रही हैं। तपस्वियों में श्रेष्ठ वैरागी महर्षि वाल्मीकि भी उसी वेग में बहने लगे। किन्तु शीघ्र ही किसी प्रकार अपने को सँभाल कर उन्होंने सीता को उबारने की चेष्टा की। बोले—"पुत्री सीते, इस प्रकार अधीर होकर यह कैसा चित्र बना रही हो?"

चौंककर सीता ने तूलिका हाथ से दूर फेंक दी और वाल्मीकि के चरणों पर गिर कर और भी विह्वल हो उठी। आशीष देते हुए मुनि ने सीता को उठा कर खड़ा किया और उसके मुँह की ओर देखा। उसकी हिरणी-सी काली आँखों में से अब जो संतप्त अश्रु-धारा गति की सीमा का उल्लंघन कर इस तरह बह रही थी मानो यह किसी प्रकार रुकना ही न चाहती हो। उसके गौर मुख पर छाई आरक्तता साफ बता रही थी कि यह क्रम न जाने कब से जारी है। सीता की इस समय की करुण मूर्ति और उसके हृदय की वेदनाओं का वह मार्मिक चित्र देखकर आदि-कवि वाल्मीकि भी उस समय सीता को सान्त्वना देने के लिए वाणी और शब्दों का अभाव-सा अनुभव करने लगे। वे सीता का मस्तक अपने हृदय से लगाकर वार्धक्य से काँपता हुआ अपना हाथ सीता के सिर पर फेरने लगे, जैसे अपने हृदय के सम्पूर्ण वात्सल्य से वे सीता के सर्वांग को नहलाकर उसके मन की सारी व्यथा, सारा सन्ताप, धो देंगे।

सामने चमकते प्रात:काल के सूर्य ने अपनी एक किरण महर्षि के मुख पर डालकर देखा, उनकी श्वेत पलकों के बीच में जल-कण छल-छला आये हैं। सूर्य स्तब्ध देखता रह गया, किन्तु उस वृद्ध-हृदय की सम्राज्ञी भक्ति-देवी त्रस्त हो उठीं। उन्होंने सरस्वती का आँचल झकझोर कर कहा—"यह मूक रहने का अवसर नहीं है शारदे, शीघ्र अपनी प्रेरणा से काम लो, अन्यथा महा अनर्थ होना चाहता है। मेरा तो अस्तित्व ही मिटना चाहता है। मैं तेरी मनुहार करती हूँ, देवी!" वाणी ने भक्ति की यह मनुहार तो स्वीकार कर ली, किन्तु यह सोचने लगी—"अयोध्या-पति के अनन्य-भक्त महाकवि के मन में आज अपने इष्ट के प्रति किंचित् विरसता उत्पन्न हुई है और मेरी सामर्थ्य कवि के हृदयगत भावों को सुसज्जित शब्दों का बाना पहनाने तक ही सीमित है, उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करना या उनमें परिवर्त्तन करना मेरी शक्ति से बाहर की बात है।

वाणी की प्रेरणा से कवि स्वत: ही बोल उठे—"सीते, अयोध्यापति

ने तुम्हारे साथ अन्याय किया है……" अभी वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि तड़पकर सीता ने अपने हाथ से महर्षि का मुख बन्द कर दिया। (महर्षि अपना वाक्य पूरा न कर पाये कि "वे तेरे प्रति कितना कठोर बन गए हैं। पुरुष-हृदय नारी के मन को समझने में असमर्थ है, फिर भी मैं आज बहुत-कुछ अनुभव कर रहा हूँ। मैं इसे सहन नहीं कर सकूंगा पुत्री, मेरा कवि होना व्यर्थ होगा यदि मैंने अपने महाकाव्य में तुम्हारी इस पीड़ा का वर्णन न किया।") सीता का हाथ छुड़ाते हुए कवि बोले, 'जाओ सीता, मेरी लेखनी और भोज-पत्र तो ले आओ। मुझे अपने काव्य के कुछ अंश बदलने हैं।"

सीता वात्सल्य की भीख-सी मांगती हुई वाल्मीकि के हृदय से और भी अधिक चिपट कर चीख उठी-"आप कुछ भी नहीं समझ सके, पिता। अयोध्यापति की सुकीर्ति सूर्य के समान प्रखर है, उनका चरित्र गंगाजल के समान निर्मल और पवित्र है। अयोध्यापति का हृदय जिस प्रकार दया के प्रति उदार और कोमल है, कर्त्तव्य के प्रति उतना ही विशाल और कठोर है। गुरु, उनकी कर्मनिष्ठा अपार है, और समुद्र के समान गहन। अयोध्यापति के गुण-गान करने ही में वाणी की महिमा है, उसी में कविता और कवि दोनों धन्य हैं। मुझे क्षमा करो, पिता, मेरे आँसुओं के कारण आज आपके मुख से स्नेह के कुछ अपशब्द निकल गये।" फिर महर्षि को झकझोरते हुए सीता ने ऐसे भावों की सरिता-सी बहा दी, मानो वह आनन्द से उतावली हो रही हो। भक्ति-देवी इस शुभ वेला पर सीता के प्रति कृतज्ञ हो उठी।

२

अबोध बालिका के समान जो माता के शरीर से चिपट कर दुलार से मातृत्व पर विजय पा ले, उसी प्रकार माया-मोह से रहित उस तपस्वी-हृदय पर सीता ने भी विजय पा ली। तपस्वी का क्रोध तो शान्त हो गया, परन्तु उसके स्थान पर वात्सल्यमयी एक पीड़ा का प्रादुर्भाव हो गया। सीता ने महर्षि के हृदय पर से उस पीड़ा को दूर करने के विचार

से आँखों में प्रसन्नता भर कर हँसते हुए कहा—"एक सुख-संवाद मिला है, पिता ! मैं तो बहुत उत्सुकता से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही थी।"

सीता की चेष्टा व्यर्थ नहीं गई। महर्षि की सजल आँखें भक्ति और आनन्द की आभा से उद्दीप्त हो उठीं। वे बोले—"कैसा सुख-संवाद है ? क्या अयोध्यापति का सुख-समाचार मिला है ?"

"हाँ पिता, अयोध्यापति अश्वमेधयज्ञ कर रहे हैं। आपके लिए निमन्त्रण आया है।"

हर्ष से महर्षि अपने महाकाव्य के राम-यश-वर्णन वाले प्रकरण का एक श्लोक गाने लगे और सीता भी उन्हीं के स्वर-में-स्वर मिलाकर दुगुने उत्साह से गाती हुई अपनी तूलिका और चित्र उठाकर एक ओर भाग गई। महर्षि ओज-भरे स्वर से गाते हुए अपनी कुटी में रामायण खोलकर बैठ गये। लव और कुश महर्षि को आया जानकर भागे हुए आये और चरण स्पर्श कर प्रणाम किया। महर्षि ने आशीष देकर उन्हें समीप बिठा लिया और रामायण कंठाग्र कराने लगे। किन्तु आज महर्षि अपने काव्य-रस में पूर्णतः तन्मय नहीं हो सके। वे अनुभव करने लगे—सीता ने उनके स्वर में जो स्वर मिला कर गाया था, ऐसा जान पड़ता था मानो उसका सम्पूर्ण हृदय उस स्वर के साथ बाहर निकला आ रहा है। और वह अधूरा चित्र !

वाल्मीकि चिन्ता में डूब गये। दोनों बालकों को उन्होंने बाहर जाकर खेलने की आज्ञा दे दी। प्रबल इच्छा होते हुए भी बालक इस समय गुरु के मनोभाव को जानकर अश्वमेध-यज्ञ में जाने की बात नहीं पूछ सके।

२

दोपहर के भोजन के निमित्त सीता जल से धोये हुए स्वच्छ कन्द मूल-फल कदली-पत्र में लिये मुनि की कुटी में उपस्थित हुई। देखा, मुनि लेखनी हाथ में लिये लिखने में व्यस्त हैं। सीता ने आदर और प्रतिष्ठा के साथ मूल-फल मुनि के सम्मुख रख कर श्रद्धायुक्त मृदु-

स्वर में कहा—"भोजन पा लें, पिता !" संकेत से सीता को समीप बैठने को कहकर अस्फुट वाणी में मुनि बोले—"आज मेरा निराहार व्रत है, सीता।" और मुनि उसी प्रकार व्यग्रता से लेखनी चलाने लगे।

मौन बैठी सीता पाँव के अँगूठे के नख से धरती खोदती हुई सोचने लगी—पिता ने आज व्रत क्यों किया ? आज मेरे कारण कवि के पुनीत और कोमल हृदय को जरूर कोई टेस लगी है। वह मन-ही-मन लज्जित होने लगी। गुरुदेव ने उसका चित्र भी तो देख लिया है। इसी तरह सोचते-सोचते बहुत-सा समय व्यतीत हो गया।

थोड़ी देर बाद लेखनी एक ओर रख दीर्घ निश्वास लेकर महर्षि स्वतः कह उठे—'सम्पूर्ण !' सीता सहसा चौंक उठी। हाथ जोड़ कर उसने प्रश्न किया—"क्या सम्पूर्ण, पिता ? क्या आपने अयोध्यापति के पवित्र चरित्र की कथा सम्पूर्ण कर ली ? पिता, मुझे उसे सुनने की प्रबल इच्छा है।

आसन से उठते हुए महर्षि बोले—"हाँ, पुत्री मेरा काव्य आज सम्पूर्ण हो गया है। किन्तु पुत्री, तुम्हें सुनाने का अभी समय नहीं है। शीघ्र ही लव और कुश को बुलाकर मेरी यात्रा की तैयारी कर दो। अयोध्यापति द्वारा सम्पन्न होने वाले अश्वमेध-यज्ञ को देखने की मेरी प्रबल इच्छा है।"

सीता पाषाण की प्रतिमा की भांति स्तब्ध खड़ी रह गई, जैसे उसमें कोई गति ही शेष न रह गई हो और अवाक् रह गए मुनि वाल्मीकि। उनके अश्वमेध-यज्ञ देखने जाने की बात से सीता के हृदय में किस प्रकार का आघात पहुँचा, यह जानने के लिए मुनि ने एक जिज्ञासापूर्ण दृष्टि सीता के अन्तर में डाली। उन्हें लगा, अयोध्यापति की यह परम-साध्वी-स्त्री सीता आज उनकी उस पुनीत योजना में सम्मिलित होने की अधिकारिणी नहीं है। आज यह पति-परायणा पति के दर्शनों से भी वंचित है। आज अयोध्या की स्वामिनी अयोध्या की प्रजा द्वारा ठुकराई जाकर निर्वासिता है ! पर अधिक देर तक वाल्मीकि

सीता के अन्तर में छिपे उस गहन-गम्भीर भाव-पारावार का भली-भांति निरीक्षण नहीं कर सके। सीता ने तुरन्त ही अपने आपको संभाल लिया और मुनि का आदेश पालन करने के लिए विद्युत-गति से भाग चली। अपने स्वर को पूरी गति पर पहुँचाकर वह चिल्लाने लगी—"ओ लव, ओ कुश, तुम दोनों कहाँ हो? शीघ्र इधर आओ। देखो, गुरुदेव अश्वमेध-यज्ञ देखने जा रहे हैं। शीघ्र आओ, बालको; देर हो रही है। पिता तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

दूर से महर्षि ने देखा, बालकों को समीप आता देखकर भी सीता जोर-जोर से बोलती ही जा रही है। महर्षि जिज्ञासा और विश्लेषण की बात भूल गए। कवियों में महाकवि और तपस्वियों में तपोश्रेष्ठ वाल्मीकि ने उस नारी-हृदय की वेदना के प्रति नतमस्तक होकर मन-ही-मन कहा—'सीता, तुम धन्य हो!'

कुछ ही क्षण बाद बालकों को यात्रा के लिए तैयार कर और अपने को प्रकृतिस्थ कर सीता मुनि के सम्मुख उपस्थित हुई और हाथ जोड़ कर बोली—"पिता, आपका व्रत कब समाप्त होगा? क्या आप निराहार ही यात्रा करेंगे?" गम्भीरता से मुनि ने कहा—'पुत्री सीते, मैं अपने काव्य की परीक्षा करना चाहता हूँ। अब तो मैं इसकी सफलता का निर्णय करके ही जल ग्रहण करूंगा, ऐसा मेरा प्रण है। और यदि मैं इसमें असफल हुआ, तो इसे अग्निदेव के समर्पित कर दूंगा।"

सीता ने देखा, अन्तिम वाक्य कहते-कहते मुनि कुछ उत्तेजित और कुछ क्रोधित-से हो उठे हैं। तेज से उनका मुख रक्त-वर्ण हो गया है आँखें उद्दीप्त हो उठी हैं। उनमें से एक प्रकार की दृढ़ता का प्रकाश निकल रहा था। सीता के मन पर आतंक-सा छा गया। 'पिता, किस प्रकार की परीक्षा लेना चाहते हैं,' यह पूछने का उसे साहस ही नहीं हुआ। मुनि आशीर्वाद देकर चलने को प्रस्तुत हो गए। सीता ने मुनि के चरणों पर मस्तक रख कर प्रणाम करते हुए धीरे से कहा—"पिता, अयोध्यापति के चरणों में मेरा प्रणाम निवेदन कीजियेगा और उनकी

थाती, ये दोनों बालक, उन्हें सौंप दीजियेगा।" इतना कहते-कहते सीता का गला भर आया।

द्वार पर यात्रा के लिए तैयार खड़े दोनों पुत्रों को छाती से लगाकर सीता फफककर रो उठी। हृदय का सन्ताप मातृ-वात्सल्य के रूप में आँखों से फूट कर बहने लगा। स्नेह से सीता की पीठ पर हाथ फेरते हुए मुनि ने आदेश दिया—"पुत्री, अब तुम जाओ। सन्ध्या समीप आ रही है। पूजा की वेला भी हो आई।" बार-बार बालकों का मुख चूम कर सीता आँखें पोंछती हुई आश्रम की ओर लौट चली और आर्द्र-कण्ठ तथा नयनों से महर्षि दोनों बालकों के साथ रामायण के श्लोक गाते हुए जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाने लगे।

४

यज्ञ-भूमि अयोध्या से भी सौगुनी सुन्दर एक विशाल नगरी के रूप में सुसज्जित थी। आज उस नगरी का प्रातः और भी महत्त्वपूर्ण और चमत्कृत हो उठा था। सारे नगर का जन-समाज आज यज्ञ ही की नहीं, अपनी दैनिक दिनचर्या तक की बात भूल कर जहां-तहां चित्र-लिखित-सा खड़ा अपने कानों द्वारा अलौकिक संगीत सुधा का पान कर रहा था। यहां तक कि अयोध्यापति भी एकाग्र मन से यज्ञ नहीं कर सके। चारों ओर से उमड़ती हुई जो मधुर संगीत-लहरी बढ़ी चली आ रही थी, सारे समाज की भांति उनका चित्त भी उसी में डूबने-उतराने लगा। पुरोहितगण मन्त्र उच्चारण करना भूल गये। रामचन्द्र आहुति का पात्र हाथ ही में लिए उठ खड़े हुए। कदली-पत्र से सुसज्जित वातायन में से झाँक कर उन्होंने देखा—साक्षात् कामदेव के अवतार-से दो बालक वीणा पर अपना मधुर स्वर झंकृत करते उसी ओर बढ़े चले आ रहे हैं और उनके पीछे-पीछे अपार जन-समुदाय उस संगीत-लहरी में डूबता-उतराता चला आ रहा है। राजा रामचन्द्रकी दृष्टि उन बालकों की छवि का आभास पाकर मुग्ध हो गई। उस छवि में न जाने कैसा आकर्षण था कि उनका हृदय एकबारगी ही उन

बालकों की ओर खिंचने-सा लगा। वह यज्ञ-जैसे महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान को भूल कर उन्हें देखने को खड़े हो गये।

भाई की यह दशा देख कर लक्ष्मण ने समीप आकर उनकी तन्मयता भंग की—"महाराज, कल संध्या समय यज्ञशाला में महर्षि वाल्मीकि का शुभागमन हुआ है। ये दोनों बालक उनके शिष्य हैं। महर्षि ने एक महाकाव्य की रचना की है। उनकी आज्ञा से बालक इसी काव्य को चारों ओर घूम-घूमकर यज्ञ में आये अतिथियों को सुना रहे हैं। महर्षि वाल्मीकि कुछ अस्वस्थ हैं, इस कारण वे आज यज्ञ-मण्डप में उपस्थित नहीं हो सके। अतिथि-गृह में विश्राम कर रहे हैं।" महाराजा रामचन्द्र ने वसिष्ठ मुनि तथा यज्ञ-वेदी पर बैठे हुए अन्य सारे मुनियों को सम्बोधित करके कहा—"आज्ञा हो तो आज यज्ञ-कार्य स्थगित कर महर्षि की काव्य-कला का और इन प्यारे बालकों के कोमल कण्ठ से स्फुटित हुई संगीत-मन्दाकिनी के रसामृत का पान किया जाय।" प्रसन्न-वदन से वहां एकत्रित सारे राजे-महाराजे और मुनियों ने राजा के प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

लक्ष्मण से बालकों को उनके पास भेजने का संकेत कर अस्वस्थ-से रामचन्द्र शयन-कक्ष में चले गये।

बालकों के मुख से वाल्मीकि-काव्य के २० अध्याय सुनकर अयोध्यापति ने बालकों से अन्तिम अंश सुनने की आकांक्षा प्रकट की। बालकों ने रामचन्द्र को स्नेह में ओत-प्रोत कर देने वाली मृदुल वाणी में उत्तर दिया—"गुरुदेव ने अभी काव्य के अन्तिम अंश हमें कण्ठाग्र नहीं कराये हैं।" रामचन्द्र जो सत्रह सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं उन्हें देना चाहते थे, बालकों ने नम्रतापूर्वक यह कहकर उन्हें लेने से इन्कार कर दिया—"हम वन के फल-मूल पर निर्वाह करने वाली वनवासिनी सीता के पुत्र हैं। ये स्वर्ण-मुद्राएं हमारे किस काम की?" और पृथ्वी पर माथा टेक कर, रामचन्द्र को प्रणाम कर, दोनों बालक वाल्मीकि के समीप चले गये।

बालकों के अन्तिम शब्द रामचन्द्र के कानों में गूंजने लगे। वे व्यग्र होकर बोले—"हनूमान, मैं एकान्त चाहता हूं!" हनूमान ने शयन-कक्ष के पट बन्द कर दिए और द्वार पर प्रतिहारी के आसन पर आकर बैठ गये।

कुछ समय उपरान्त राजा रामचन्द्र ने एक पत्र लेकर लक्ष्मण को महर्षि वाल्मीकि के समीप भेजा। पत्र पढ़कर मुनि पुलकित हो उठे और बोले—"लक्ष्मण, अयोध्यापति ने लिखा है, मैंने अपने काव्य में सीता के जिस सतीत्व के पराक्रम का वर्णन किया है, कल यज्ञ-मण्डप में वे सीता द्वारा उसी का प्रमाण चाहते हैं। लक्ष्मण, तुम तुरन्त एक द्रुतगामी रथ की व्यवस्था करो, जिससे मैं शीघ्र-से-शीघ्र सीता को यहाँ ला सकूँ। और अयोध्या के महाराज से कह देना कि वे सारी अयोध्या की प्रजा, अपने सारे मानव-समाज, वानर-समाज, राक्षस-समाज, और सारे देव समाज को भी एकत्रित करें। सब के सामने सीता प्रमाण देंगी।"

यह कहकर मुनि ने आश्रम के लिए प्रस्थान किया और लक्ष्मण प्रणाम करके भाई के समीप मुनि की आज्ञा सुनाने चले गये।

आश्रम में पहुँचकर मुनि ने देखा—मलिन वेश में, आंखें बन्द किये समाधिस्थ-सी बैठी सीता साधना में रत है, दिव्य दृष्टि से मुनि ने जाना—सीता ने निराहार रह कर तप द्वारा अपने प्राण छोड़ने का निश्चय किया है। उत्तेजना और आज्ञा-युक्त शब्दों से मुनि ने सीता की साधना भंग की—"उठो सीते! रामचन्द्र भरे समाज के बीच में तुम्हारे सतीत्व का प्रमाण चाहते हैं। तुम्हें अपने सतीत्व का प्रमाण देना ही होगा। देवि, चलो, अयोध्यापति का रथ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।"

चौंक कर मुनि को प्रणाम करते हुए सीता ने कहा—"किन्तु पिता, अग्नि-परीक्षा के उपरान्त सीता को अब फिर किसी प्रकार का प्रमाण देने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। आपकी दया से मैं माता के कर्त्तव्य से उऋण हो गई। अतएव अब मेरी प्राण रखने की अनिवार्यता भी समाप्त हो गई। आप बालकों को उनके पिता को सौंप कर मेरी

ओर से क्षमा मांग लें। उनकी इस अन्तिम आज्ञा का मैं अब पालन नहीं कर सकूंगी।"

आग्रहपूर्वक वाल्मीकि बोले—"नहीं सीते, तुम्हें चलना ही होगा। यह तुम्हारी परीक्षा नहीं वाल्मीकि के तप की परीक्षा है, वाल्मीकि-रामायण की परीक्षा है। स्वाभिमान की वेदना को मैं जानता हूं, किन्तु मेरे लिए तुम्हें उस पीड़ा को, जैसे भी हो, सहना ही होगा। अयोध्या की प्रजा द्वारा ठुकराई हुई अयोध्या की महारानी भले ही फिर अयोध्या के राजा के रनिवास में जाना सहन न करे, पर वाल्मीकि के आश्रम ही के नहीं, हृदय के द्वार भी सदैव उसके लिए खुले हैं। पुत्री, तुम्हारे इस कष्ट-सहन से वाल्मीकि और वाल्मीकि-महाकाव्य धन्य हो जायगा।"

सीता अब और कुछ न कह सकी। कृतज्ञता के भार से दबी-सी वह रथपर बैठ गई और मन-ही-मन मुनि को धन्यवाद देने लगी, जिनके द्वारा फिर उसे आर्यपुत्र के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होने जा रहा था।

९

प्रातःवेला में जब यज्ञ-मण्डप में बहुत बड़ी सभा एकत्रित हो गई, देवलोक से सारे देवता और गन्धर्व आदि भी आ गए, राजा रामचन्द्र आकर यज्ञ-वेदी पर बैठे। इस समय सभा में एक क्षणिक-सा कुतूहल होकर फिर गहरी स्तब्धता छा गई। सारे जन-समुदाय की आंखें द्वार की ओर चली गईं। सबने देखा—तपस्वियों के शिरोमणि महाकवि वाल्मीकि एक हाथ में रुद्राक्ष की माला और दूसरे में गंगाजली लिये चले आ रहे हैं। उनके पीछे पवित्रता की साक्षात् प्रतिमा-सी सीता वल्कल धारे मस्तक नीचा किये, धीरे-धीरे चली आ रही है। उसके मुख की कान्ति को सतीत्व का सत्य द्विगुणित कर रहा है। उसे देख कर सारे उपस्थित व्यक्तियों के हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो उठे। सबने सीता को मन-ही-मन प्रणाम किया। अयोध्यापति राजा रामचन्द्र मुख नीचा कर भूमि निहारने लगे। उन्हें मुनि के स्वागत में खड़े होकर प्रणाम करने का भी भान नहीं रहा।

उनके समीप आकर घनघोर गर्जना-सी करते हुए हाथ ऊपर उठा कर महर्षि वाल्मीकि ने कहा—"महापराक्रमी, महाबलशाली, गौरवशाली, त्रिलोक के शिरोमणि रामचन्द्र, तुमने अपयश के भय से परम सती सीता का गर्भावस्था में परित्याग किया था और उसकी अग्नि-परीक्षा ले चुकने के बाद भी आज तुम इस विशाल-समाज के बीच में उसके सतीत्व का प्रमाण चाहते हो ? मैं गङ्गाजली हाथ में लेकर सीता के सतीत्व का प्रमाण देता हूँ। मैंने घोर तपस्या की है, किन्तु मेरे अनन्तकाल की सारी तपस्या तराजू के एक पलड़े में रख दी जाय और एक में सीता का सतीत्व, तो सीता ही का पलड़ा भारी रहेगा। यदि इस वचन में किंचित् भी असत्य या अतिशयोक्ति हो, तो मेरी आज तक की तपस्या का सारा फल नष्ट हो जाय, मेरी साधना भ्रष्ट हो जाय, जिस पवित्र जल को लेकर मैं यह सौगन्ध खा रहा हूँ, उस जल की धारा को मस्तक पर धारण करने वाले शंकर मुझे अपने तीसरे नेत्र की ज्वाला से भस्म कर दें।"

सारी सभा में साधुवाद का नाद गूंज उठा—और विह्वल-से रामचन्द्र मुनि के चरणों पर गिर कर बोले—"देव, मुझे क्षमा करो !"

"कल्याण हो !" कह मुनि ने सीता की ओर देख कर कहा—'पुत्री, तुम्हें प्रमाण-स्वरूप जो कुछ कहना हो, कहो। वाल्मीकि की इस आज्ञा से लक्ष्मण का मन विकल उठा। उन्होंने चाहा कि दौड़ कर सीता के चरण पकड़ लें और कहें—माता अब क्षमा करो। माता कौशल्या ने चाहा कि भीड़ को चीरती हुई जाकर कुल को उज्ज्वल करने वाली पुत्र-वधू को हृदय से लगा लें। अयोध्या की प्रजा चीखने को हुई कि उसे अपनी महारानी से सतीत्व का प्रमाण नहीं चाहिए; उसका अपराध क्षमा हो। पर सीता ने किसी को पलक मारने तक का अवकाश नहीं दिया और मन-ही-मन रामचन्द्र को प्रणाम कर पृथ्वी को सम्बोधित करके बोली—"माता, अपने पतिव्रत में यदि मैं तेरे ही समान अचल

रही हूँ तो तू मेरी लज्जा और मर्यादा को अचल रखने के लिए मुझे अपने भीतर स्थान दे।"

भयंकर गर्जना के साथ पृथ्वी फटी और उसमें से एक दिव्य-सिंहासन प्रकट हुआ। देवी पृथ्वी ने स्वयं सीता को उठा कर उस दिव्य-सिंहासन पर बिठा लिया और वह सिंहासन पृथ्वी में चला गया। सारे देव, नर, किन्नर, वानर और महान् शक्तिशाली रामचन्द्र भयभीत-से देखते रह गए सीता के प्रचण्ड सतीत्व सन्ताप की उस महिमा को !

'सोने का कड़ा' पीड़ित परिवार की कहानी है।

कर्तव्यशील कांग्रेसी 'नगर पिता' ने 'दिवाली' के अवसर पर पीड़ित पंजाबी महिला को अर्थ-लोलुप सर्राफ से असली 'सोने का कड़ा' दिलवाकर संरक्षण-प्रदान किया।

कहानी में अन्धकार दिवाली में, वियोग मिलन में और नकली असली में बदल गया।

भाषा कहानी के अनुरूप सरल है।

देवदत्त 'अटल'

राजनीतिक विषमताओं की प्रतिक्रिया जिन नवयुवकों के मस्तिष्क पर साहित्य-सेवा के रूप में झलकी, देवदत्त 'अटल' उनमें से एक हैं। जीवन के आरंभिक काल में उन्होंने बालभारत सभा द्वारा देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन में प्रवेश किया और मां—भारत की सेवा में जुट गये। एक ओर दासता की कड़ियां काटते दूसरी ओर उन्होंने लेखनी थामी और हिन्दी-साहित्य की गोद भरनी आरम्भ की।

इसे 'अटल' का साहस ही कहना चाहिये कि लगभग दस वर्ष कारावास में काटने के बावजूद उन्होंने हिन्दी को बहुत कुछ दिया और जो दिया, वह बिल्कुल अनूठे ढंग का। 'अटल' ने सब से पहले कहानी-कला को छुआ और अपनी ही शैली में अनेकों कहानियां लिख डालीं। इन कहानियों में 'अटल' के विचारों का स्पष्ट प्रतिबिंब है। दासता के विरुद्ध लड़ने वाला युवक पददलन को कभी सहन नहीं कर सकता। अटल ने अपनी कहानियों में पीड़ित मानवता को उठाने की सफल चेष्टा की है। छोटे-छोटे वाक्यों की सीधी-तीखी कहानियां उनकी एक विशेषता है।

उनकी कहानियों की एक और विशेषता शुष्कता है। राजनीतिक व्यक्ति के जीवन में रस बहुत कम होता है। इसलिए 'अटल' की कहानियों में आपको शृङ्गार नहीं मिलेगा; जीवन

वास्तविक चित्र मिलेंगे। वास्तविकता में रस कभी नहीं होता।
'अटल' ने हिन्दी-साहित्य की सेवा के अलावा हिन्दी के प्रचार की ओर भी ध्यान दिया है। राष्ट्र-भाषा प्रचारक संघ की स्थापना कर उन्होंने पंजाब में हिन्दी को प्रचलित करने में काफ़ी सहायता दी। 'ज्वाला' नाम से 'अटल' की कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। 'जीवन की कहानियाँ' के शीर्षक से उन्होंने हिन्दी की चुनी हुई कहानियों का एक संग्रह और भी किया है। इस संग्रह की भूमिका 'अटल' के विस्तृत अध्ययन की द्योतक है।

पंजाब से निष्कासन के बाद दिल्ली में 'अटल' जी ने कतिपय एकांकी नाटकों का भी सृजन किया है जो पाठकों में चाव से पढ़े गये।

: १८ :

सोने का कड़ा

—और आंखें आँसुओं में स्नान कर रही थीं। आंचल भीगी पलकों को पोंछ कर और भी भीग गया था। वह रो रही थी। उसके आंसू थमते ही न थे।

वह एक बच्चे की मां थी, उसका पति शायद मर चुका था या··· भीषण साम्प्रदायिक दंगे की ज्वाला अकस्मात् भड़क उठी। वह दफ्तर से घर लौटकर नहीं आया। कहां है ? किसी को ज्ञात नहीं।

वह मां घर से केवल बच्चे को ही ला सकी। सारा माल-असबाब वहीं रह गया—बड़ी कठिनाइयों के उपरांत शरणार्थी-शिविर में पहुँच पाई।

सन्ध्या के चार बजे थे। बच्चा खेलने गया था। गली-मोहल्ले के बच्चों से इतनी जल्दी मेल-जोल कर लेना बच्चे का स्वभाव था। वह भागता-भागता आया।

'मां ! आज दिवाली है, दिवाली। दीप जलायेंगे—मालिश-जाली भी—।'

वह रुक कर विस्फारित नेत्रों से मां को देखते हुए बोला—

'माँ ! तुम तो रो रही हो !'

'नहीं बेटा, मैं तो नहीं रो रही।'

वह हँसने की चेष्टा करने लगी। किन्तु उसके गालों पर सूखे आँसुओं की छाप साफ़-साफ़ दिखलाई दे रही थी। मां ने उसे भी छिपा लिया। बच्चा यह सब कुछ इतनी शीघ्र भूल गया जैसी बच्चों की आदत होती है।

वह फिर खेलने चला गया। उसके हमजोलियों का कोलाहल गली में बढ़ता चला जा रहा था।

मां अकेली—विचारों में मग्न थी।

'वे बाज़ार से लाये, खिलौने-मिठाइयां, पुष्पमाला—विद्या ! अरे ! तुम्हारा तो काम ही इतना पड़ा है। जल्दी करो न लक्ष्मी पूजा का समय बीत रहा है।'

विद्या की आंखों के सामने एक-एककर चित्र आते थे और फिर धूमिल हो जाते थे।

'बच्चे की दसवें वर्ष की दिवाली है, पर······।'

उसकी मातृ-आत्मा स्नेह के झंझावात में बहने लगी।

अर्थहीन—

साधनहीन—

वियोग दग्ध—

वह पीड़ा के बोझ से दबी जा रही थी। रह-रहकर पति की स्मृति से व्याकुल हो उठती थी।

लेकिन—

बच्चे का उल्लासपूर्ण शब्दों में दिवाली की सूचना देना, कुछ आग्रह, फिर कातरभाव से चले जाना। मां के हृदय को चोट लगी, उसमें

तूफ़ान-सा उमड़ रहा था।

वह—

कुछ देर निश्चल भाव से बैठी रही। फिर इधर-उधर टटोला, एक चीथड़ों की पोटली से सोने का कड़ा निकाला और सर्राफ की दूकान की ओर चली।

वह क्रय-विक्रय के लिये पहिली बार ही बाजार गई थी। उसने तो गली-मोहल्ले में भी सौदा नहीं ख़रीदा था।

बाजार का काम पति ही करते थे।

वह 'चाँदनी चौक' में सर्राफ की दूकान पर जा खड़ी हुई। वह मन में पहले तो झिझकी किन्तु फिर साहस करके पतंग के महीन हरे काग़ज़ में लिपटा हुआ कड़ा निकाला और सर्राफ के हाथ में दे दिया।

'यह बेचना है ?'

'बेचना है।'

सर्राफ ने धुँधली ऐनक के शीशे में से आँख घुमाकर कड़े को उलटा-पलटा।

विद्या खड़ी देख रही थी। पीछे ट्राम की गड़गड़ाहट ने उसका ध्यान अपनी ओर खींचा क्योंकि एक लटका हुआ सवार फिसल कर गिर गया था।

'यह असली सोना नहीं है। यह तो नकली है।'

वह चौंक-सी गई। पर उसने वाद-विवाद में पड़ना उचित न समझा और काग़ज़ में लिपटा कड़ा लौटा लिया। अगली दूकान पर चली गई। वह जानती थी, कड़ा खालिस सोने का है। इस वृद्ध सर्राफ को जाँचने में भूल हुई है।

× × × ×

बच्चे खेलते-खेलते एकदम चिल्लाये:—

'बाबा आ गये ! बाबा आ गये !'

बच्चों ने बूढ़े को घेर लिया। कमल कुछ उदास था, कुछ थका हुआ

भी, क्योंकि वह कई बार बाल-सखाओं के घर से 'शरणार्थी शिविर' में फिर शिविर से मित्र-मण्डली में घर से आया-गया किन्तु 'कैम्प' में मां को न पाकर चकित हुआ। पर शंकित था क्योंकि मां ने कभी भी इतनी देर बाहर न लगाई थी।

वह उदास ही खड़ा रहा।

बच्चे बूढ़े की टांगों से लिपट रहे थे। वे खिलौने, मिठाइयों की टोकरियों पर अपने-अपने अधिकार की मोहर लगा रहे थे। कमल ने दूर से प्यासी आँखों से देखा और लौटना चाहा कि रूपी ने चिल्लाकर पुकारा—'कमल भैया! जाना मत, खिलौनों से खेलेंगे।'

'यह कौन है बेटा!'

'यह पंजाबी है, "शरणार्थी शिविर" में रहता है।'

'शरणार्थी! इधर आइयो बेटा!'

वृद्ध ने कमल को संकेत से बुलाया। वह बूढ़े के निकट आया, कुछ झिझका, कुछ लज्जा थी।

वृद्ध ने जब स्नेह से कमल के सिर पर हाथ फेरा तो वह सिसकने लगा, उसकी आंखें डबडबा आईं।

'अरे तुम रोते हो!'

बूढ़े ने मिठाई का दोना कमल के हाथ पर रखा और बातों-ही-बातों में उसके सम्बन्ध में पूछ लिया। कमल ने बाल-बुद्धि के अनुसार सब कह सुनाया और सिसकियां भरते हुए उसने यह भी कह दिया कि—

'मैं अपनी मां को खोजने गया था, वह मुझे खोजने न आने कहां निकल चली-हो और मैं……।'

वह फूट-फूटकर रोने लगा।

लाला राधाकृष्ण दिल्ली के पुराने ख्याति प्राप्त कांग्रेसकर्मी थे। अब तो वे 'नगर-पिता' भी निर्वाचित हो चुके थे। उन्होंने कमल की उंगली पकड़ी और 'शरणार्थी-शिविर' में गये। वहां सुना, वह एक बजे से बाज़ार गई है। वे 'चांदनी चौक' में खोजने लगे।

चलते-चलते वे सर्राफ की दुकान के सामने से गुजरे।

दूकानदार ने नौकर को पुकार कर कहा—

'हरिया! गद्दी रखना।' नौकर के हाथ में [illegible] उठे—

'राम राम लाला जी! आज [illegible] है।'

लाला राधाकृष्ण की [illegible]।

'सब भगवान् की कृपा है, सेठ जी!'

'सँभाल कर रखना भाई!' [illegible] की ओर मुड़े।

'हाँ' भगवान की कृपा हो तो आइये।'

'अच्छा, जय राम' लाला राधाकृष्ण आगे बढ़े।

सर्राफ मधुर स्वभाव [illegible] था।

विद्या बदहवास भागी भागी आई।

'सेठ जी! धोखा! आपने मुझसे धोखा किया है। मेरा कड़ा बदल कर दे दिया है। यह मेरा नहीं।'

'चल चल! लोगों को ठगती है। ठगिन! तुम भी अनेकों देखी हैं।' सर्राफ ने धमका कर कहा।

'ठग तुम हो! तुमने धोखा दिया है।'

विद्या बावली-सी होकर बोली—

'दुकानदार हो या चोर!'

लोग इकट्ठे होने लगे।

विद्या को ऐसा मालूम होने लगा जैसे जमीन पैरों से निकल रही है। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह कुछ घबराई सी सँभली। कहीं लोग मुझे ही झूठा न कहने लगें। वह नम्रता से बोली—

'भाई साहब! देखिये न मैंने-मैंने······

वह रोने लगी। कण्ठ ने बोलना बन्द-सा कर दिया। वह धीमे-धीमे बोली—

'यह कड़ा बदल दिया गया है।'

'साहब ! यह पागल है। बाजारों में घूमा करती है। इसका तो रोज का किस्सा है। आप······।'

लोग दुकानदार की बात का विश्वास करके अपने-अपने काम को जाने लगे।

'हाय ! राम ! सचाई का नाम ही मिट गया है। इतना अंधेर···मैं सच्ची हूँ फिर भी···।'

उसकी सारी पूंजी चली जा रही थी। वह फिर चिल्लाई। लेकिन दुकानदार ने धमका कर कहा:—

'मैं पुलिस के हवाले कर दूँगा।'

'यही करना पड़ेगा। कल हर व्यक्ति चीख-चिल्लाकर 'दावेदार' बन जाया करेगा:—' साथ का दुकानदार बोला।

'तुम जाओगी कि नहीं ?'

'मैं नहीं जाऊँगी। मेरा कड़ा दिलवा दो।'

वह उग्र हो उठी। दुकानदार ने एक धक्का दिया। विद्या तिलमिला उठी और दुकानदार का मुँह नोच लिया। भारी भीड़ जमा हो गई। एक कान्स्टेबल घूमता-घूमता वहां पहुँचा। दुकानदार ने कुछ गांठ-सांठ की।

'चली जाओ वरना···।' पुलिस वाले ने विद्या को सम्बोधित किया।

'मुझे कड़ा ले दो, बस, मैं चली जाऊँगी।'

'कड़ा-वड़ा कुछ नहीं, हटो यहां से।'

यह झगड़ा चल रहा था। कुछ अधिकारी···और लोग फिर इकट्ठे होने लगे।

लाला राधाकृष्ण भी कमल की उंगली पकड़े लौट रहे थे। वे माजरा जानने के लिए वहीं रुके। कमल ने भीड़ में से मां की आवाज़ सुनी।

"मां ! मां।"

कमल भीड़ चीरता हुआ मां की टांगों से लिपट गया। लाला राधाकृष्ण ने सारी चर्चा सुनी तो उनके सामने सर्राफ और नौकर की वह बात-चीत घूमने लगी।

लोग विद्या को ही भला-बुरा कह रहे थे। जितने मुँह उतनी बातें हो रही थीं।

लाला राधाकृष्ण ने आगे बढ़ कर कहा—'लड़की सत्य कह रही है। मैंने कड़ा आँखों से देखा है।'

सर्राफ की आँखें लाला राधाकृष्ण की ओर उठीं।

'निकालो, उस बक्स में पड़ा है।'

सर्राफ न-नु-न-च न कर सका। उसका सिर शरम के मारे झुक गया। लोगों की निगाहें लाला राधाकृष्ण की ओर थीं। दिल्ली के अफसर 'नगर पिता' के सम्मान में चुप ही रहे।

कड़ा विद्या के हाथ में था।

'चलो बेटी !'

लाला राधाकृष्ण स्नेह-सिक्त वाणी में बोले।

वे सब चले, कमल दोनों के बीच में था !

× × × ×

घर में चहल-पहल मच गई। लाला राधाकृष्ण नवागन्तुकों की आव-भगत में लगे। घर में दिवाली की रौनक और चमकने लगी।

विद्या कमल को गोद में लेकर बोली:—

'आज दिवाली है न ?'

'तुम्हारे……।'

वह स्वप्न में डूब गई।

दीप से दीप जलाये जाने लगे।

विद्या मन ही मन लाला राधाकृष्ण को दुआएँ दे रही थी।

'बेटी ! चलो लक्ष्मी पूजा कर लो।'

लाला राधाकृष्ण ने कहा।

'लक्ष्मी-पूजा ?'

विद्या की सूनी आँखों के सामने स्मृतियाँ आकर नाच उठीं······ और वह उनमें खो गई, अपने को भूल गई। पिछले साल दिवाली आई थी जब वे थे——सुन्दर सलौने, तब की दिवाली वरदान था और आज·········

इसी समय किवाड़ खटखटाने का शब्द सुनाई दिया। विद्या ने किवाड़ खोले, आगन्तुक के होंठ कुछ पूछने वाले थे कि वह अपने सामने विद्या को देखकर उससे लिपट गया। विद्या भी अपने को भूल गई और उसने आगन्तुक की बढ़ी हुई बांहों को अपना शरीर सौंप दिया। कमल ने आगन्तुक को देखा और चीख कर 'बाबू जी' कहता हुआ उसकी टांगों से लिपट गया।

लाला राधाकृष्ण ने यह देखा—वे मन ललक गये। उनकी आँखों से आनन्द और मोद के आँसू छलक आये। वे रुद्ध कण्ठ से बोले—'बेटी ! आओ लक्ष्मी पूजन करेंगे' और तीनों व्यक्ति मिलकर लक्ष्मी की पूजा करने लगे।

"पाले डाकू" पठानिस्तान का वीर पठान है। ईमानदारी, वचन-परायणता और सरलताकी मूर्ति है, किन्तु लोग शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले प्राणी से न जाने क्यों खार खाते हैं। "पाले डाकू" शान्ति से जीवन बिताना चाहता था पर— शत्रु पक्ष को यह स्वीकार न था। तब वह प्रतिहिंसा, प्रति-शोध की ज्वाला बन गया। पाले शायद मरते-मरते भी अपने वचन को निभा गया—

यश

आतंक, गोली, फौजी-कानून का बोल बाला, भारत के राजनीतिक जीवन में खौलता ज्वार-भाटा आ रहा था। तब १७ जून १६१६, जिला गुजरात जलालपुर जट्टां में श्री "यश" पैदा हुए।

दशाब्दि बीत चली। फिर एक बार गोली, लाठी, जेल भारत के राजसी क्षेत्र में आतंक होने लगा। यह था सन् ३०, महात्मा गांधी के डाँडी-मार्च का युग। बालकों की सभा "बाल भारत-सभा" का प्रधान मन्त्री था "यश", जो अब तक गैर कानूनी चली आ रही है। तब से अब तक श्री यश सात बार जेल जा चुके हैं।

मुझे स्मरण है जब "यश" की पहिली गिरफ्तारी हुई थी तब हथकड़ियाँ इतनी बड़ी थीं कि "यश" के पतले-नन्हें हाथों से गिर-गिर पड़ती थीं। यह था बचपन। तब से लेकर अब तक जेल घर, घर जेल "जेल ही घर" है।

सन् ४२ की आंधी से कोई ही बचा होगा। श्री "यश" इस आंधी में तीन वर्ष तक जेल में नजरबन्द रहे हैं। आज कल पंजाब प्रान्तीय कांग्रेस के कोषाध्यक्ष, तथा पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री हैं।

कहानी क्षेत्र में आपका अपना अलग स्थान है। इन्होंने अनेक कहानियां लिखी हैं जिनमें मानव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण बड़ी सफलता से किया है। आपकी कहानियों में कला, हृदय की सच्ची अनुभूति, संघर्ष की एक

प्रेरणा मिलती है। आपकी कहानियों में कल्पना कम तथा मानव जीवन का वास्तविक रूप अधिक रहता है। आप अच्छे कहानीकार के अतिरिक्त भावुक वक्ता भी हैं। आज कल दिल्ली में 'हिन्दी मिलाप' के संपादक हैं।

आपकी दो रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—

१ कारावास

२ आग

सन्तराम "विचित्र"

: १६ :

पाले डाकू

१

पाले का नाम सारे ज़ोन के लिये आतंक-सा बन गया था। राहगीरों के लिये तो वह मौत से कम न था। लारी में आने जाने वाले यात्री कभी उसकी भनक भी पा जाते तो सीटों के नीचे छिपने लगते। छावनी में बसने वाले लोग सुपने में ही चीख उठते; उन्हें भास होता, पाले अभी उन्हें लूटना ही चाहता है। कहीं से धाँय की आवाज़ सुनते ही सारे शहरी सन्न रह जाते और किसी अज्ञात की बे-वक्त मौत पर अनजाने ही आँसू बहा देते।

और पाले-निडर, बेख़ौफ़। छःफुटछः इंच का वह भीमकाय पठान; हर वक्त आँखों में धधकते अंगारे भरे हुए। छत्तीस इंच की चौड़ी छाती और उस में छिपा हुआ एक दलेर दिल, मानो किसी शेर का जाया हो। कारतूसों की एक पेटी, दायें-बायें पिस्तौल और छुरा लटका कर वह किसी मस्त हाथी की तरह चलता। उसके चेहरे पर एक अजीब वहशीपन था। जब वह अपने मैले-कुचैले दांत किचकिचाता तो मालूम होता कोई बीभत्स वनपशु गुर्रा रहा है। उसकी आवाज़ किसी जंगली जानवर की दहाड़ से कम न थी।

जब कभी वह किसी जगह या किसी लारी पर डाका डालता तो लोग सहम से जाते। कई बार ऐसा हुआ कि लोगों के पास बन्दूकें होतीं, उनमें गोलियां भी भरी रहतीं; लेकिन पाले को देखते ही वह अपने हवास खो बैठते। वह भरी बंदूकें उनके हाथों में ही पकड़ी रह जातीं और पाले लूटकर चलता बनता। एक ही बार ज़रा हिम्मत वाले लोगों ने उसका मुक़ाबिला किया, लेकिन उसका परिणाम उलटा निकला। उसका निशाना अचूक था। उसके छुरे का वार आज तक खाली न गया था। और सच पूछो तो उसे छुरे पर अपनी पिस्तौल से अधिक विश्वास था। इसलिये जिस किसी ने भी मुकाबिले की ठानी, वह बच न सका। लोग अपनी दौलत गँवा कर अपनी जान बचा लेते। "जान के साथ जहान है, दौलत तो हाथ की मैल होती है। जीते रहे तो और कमा लेंगे।" लोग यह सोच परे हट जाते और पाले अपने साथियों के साथ धड़ल्ले से आता, जी भर कर लूटता, और विजयी लौट जाता।

दया नाम की कोई वस्तु या भावना उसके दिल में स्थान पा सके, इस की संभावना न थी। किसी के प्राणों का उसके सामने कोई मोल न था। मानव का रक्त उसके लिये सरिता के जल से अधिक महत्व न रखता था। किसी जगह तनिक-सी उपेक्षा, सांकेतिक खटका पाते ही उसका हाथ छुरे पर जा अटकता और क्षण भर में लोहू का फ़व्वारा छूट पड़ता। उसकी आँखों में जल रही आग गर्म खून से भी न बुझती। होने को तो वह मनुष्य था;—लेकिन राक्षस से भी क्रूर—ज़्यादा भयंकर।

मुसाफ़िरों से भरी लारियाँ वह सड़क पर बड़े-बड़े पत्थर फेंक कर रोक लेता और लारी को पैट्रोल से जला देता। आग की लपटों को नाचते देखकर उसके चेहरे पर एक अजीब-सी लाली छा जाती और वह किसी जंगली की तरह गुर्राने लगता। उसके दरिन्दों-से तीखे दांत खिल-खिला उठते और लुटे मुसाफ़िरों की ओर देखकर वह क्रूरतापूर्ण अट्टहास कर उठता।

पाले के इन कारनामों के कारण सारे ज़ोब के इलाके में त्राहि-त्राहि मच उठी। कोई भी चैन की नींद सो नहीं सकता था। लोग दिन के समय में भी उड़े रंग घर से बाहर निकलते। हर समय उनके दिल धड़कते रहते। चेहरों पर हवाइयाँ उड़तीं।

सरकार की ओर से पाले को पकड़ने के लिये इनाम घोषित किया गया। पहले पांच सौ; फिर एक हज़ार और होते-होते यह दस हज़ार तक पहुँच गया। लेकिन वह पकड़ा नहीं गया। दिन प्रति दिन उसकी शक्ति बढ़ती ही गई। पहले वह महीने में एक बार डाका डालता था। अब तीसरे-चौथे दुर्घटनायें होने लगीं। उसने तीन-चार डाक-लारियाँ तक लूट लीं। इसलिये जरूरी हो गया कि रक्षा का कोई स्थायी प्रबंध किया जाये। आने जाने वाली सड़कों पर चौकियां बना दी गईं और उन पर खासेदार[1] तैनात कर दिये गये। वह दिन-रात भरी बन्दूकों से पहरा देते और पाले और उसके साथी-डाकुओं की ताक में रहते। लेकिन, प्रायः ऐसा होता, जब पाले आता तो वह खासेदार या तो छुप जाते या चुपचाप देखते रहते। पाले से भिड़ने की उनमें शक्ति न थी। इसलिये इतना होने पर भी रात फिर सरकारी लारी लूटी गई। उसमें तीन अंग्रेज़ और उनकी एक मेम थी। साथ में दस फ़ौजी भी थे। पाले ने चालीस डाकुओं के साथ सड़क घेर ली और दसों फौजियों को मार डाला। एक अंग्रेज़ इसी लड़ाई में मारा गया, बाक़ी दोनों को पाले ने पकड़ लिया। थर-थर कांपते उन्होंने देखा—जलती लारी के पास खड़ा पाले गुर्रा रहा है। उसकी आंखों में आग की लपटें चमक रही हैं और पास दसों सिपाही चित्त पड़े हैं।

२

इस घटना से छोटे बड़े सभी अफ़सर और जन-साधारण कांप उठे। परन्तु, इसका प्रतिकार उनके पास कुछ न था। बड़ी-बड़ी फ़ौजों का वहाँ काम न था। आज तक कोई भी डाकू फ़ौजों से नहीं पकड़ा गया। उसके

---

1. बलोचिस्तान में सरकारी पहरेदारों को खासेदार कहते हैं।

अपने ही आदमी यदि उससे विश्वासघात करें तो वह पकड़ा जाय। लेकिन पाले के सामने कोई उसकी आज्ञा के बिना हिल भी न सकता था।

सरकार के पास अब केवल एक ही साधन रह गया था—सुलह।

प्राय: ऐसा होता है, जब कोई कबायली डाकू बेकाबू हो जाय तो उसे बुलाकर सुलह कर ली जाती है। और पाले डाकू बना भी इसीलिये था। गवर्नमेंट ने उसके बाप के मरने के बाद उसे गाँव का नम्बरदार न बनाकर उसके चचेरे भाई को बना दिया था। पाले इतना अपमान सहने का अभ्यासी न था। उसका खून खौल उठा और वह फ़रार हो गया। तब से उसने डाके डालने शुरू कर दिये। उसे पकड़ने के सब साधन छुट गये तो सरकार की ओर से उसे सुलह के लिये आमंत्रित किया गया।

सरकारी तौर से घोषणा कर दी गई कि यदि पाले सुलह करना चाहे तो बड़ी खुशी से आ सकता है। उसे पकड़ा नहीं जायगा और यदि सुलह न हो सकी तो उसे लौटने का अवसर दिया जायेगा।

२

पाले जितना खूंखार था, उससे कहीं अधिक दलेर। साथियों के डरावे का उस पर कुछ भी असर न हुआ। उसने कहला भेजा, "जुम्मे के रोज़ नाले के पुल पर मैं मिलूँगा।" और जब सरकारी आदमी उसे लिवा लाने के लिये गये तो वह वहाँ पर बिलकुल अकेला खड़ा था। गोलियों की पेटी के अलावा उसके दायें-बायें छुरा और पिस्तौल अब भी लटक रहे थे। लेकिन, वह बिलकुल अकेला था। सरकारी कर्मचारी थर-थर काँप रहे थे। एक अफ़सर आगे बढ़ा—"पाले, क्या तुम अकेले हो?"

पाले गुर्राया। मानो इस प्रश्न में उसे अपना अपमान दीखा हो। वह अफ़सर थर्रा गया, लेकिन हिम्मत करके बोला, "चलो, हमारे कप्तान नीचे कैम्प में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

पाले कुछ बोला नहीं। शायद उसने बोलने की कोई ज़रूरत नहीं समझी। ऐसे जैसे कोई तुन चलता है, वह अपना सारा रोष और क्रोध अपने में समेट कर चला। उसकी आँखों में अब भी वही वहशीपन था। वही प्रतिहिंसा की ज्वाला सुलग रही थी।

४

डोरी में एक साधारण-सी गाँठ पड़ जाती है तो उसे सुलझाने की चेष्टा करते समय प्रायः ऐसा होता है कि सुलझाने वाले की नासमझी के कारण वह अधिक उलझ जाती है। सुलझने के बजाय उसे उलझते देख वह झल्ला उठता है और गुस्से में आकर उसे खींचने लग जाता है। इस तरह गाँठ उलझती ही चली जाती है। आख़िर जब वह हार कर उसे ढीला छोड़ देता है, तो गाँठ अपने आप सुलझ जाती है।

पाले की घटना यों उलझी डोरी की गाँठ ही सिद्ध हुई। जब तक दोनों ओर खींचातानी होती रही, मनमुटाव बढ़ता रहा। लेकिन जैसे ही सरकार की तरफ़ से कुछ ढील मिली, मामला सुलझ गया।

पाले और सरकार में सुलह हो गई। सरकार की तरफ़ से आश्वासन दिला दिया गया कि उसका अधिकार उसे दे दिया जायगा। पाले ने अपने जुर्मों के लिये सरकार से क्षमा माँग ली और साथ ही वायदा किया कि वह उन दोनों अंग्रेज़ों को लौटा देगा।

लोगों ने सुलह की बात सुनी तो चैन की सांस ली। उन्हें अनुभव हुआ, उनके सिर पर जो कच्चे धागे से तलवार लटक रही थी, वह हट गई। उस रात सब लोग सुख की नींद सोये। परन्तु——

दूसरे ही दिन प्रातःकाल लोगों ने सुना कि पाले फिर फ़रार हो गया है। आज रात को ही वह सरकारी अतिथिगृह से ग़ायब है। उन्हें एक बार फिर मौत सामने नाचती हुई दिखाई दी। उन्हों ने समझा, पाले सरकार से नाराज़ होकर चला गया है। अब वह अपने पूरे दल-बल के साथ हमला करके बदला लेगा। सब लोग सहम गये।

सरकारी अफ़सर भी इस उलझन को समझ नहीं सके। उन्होंने तो

पाले को कोई ऐसी बात नहीं कही थी। वे पाले के स्वभाव से भली-भाँति परिचित थे।

राह चलतों में कानाफूसी होने लगी, "उसके मुँह लोहू लग गया था, भला नम्बरदारी पर राज़ी कैसे हो जाता ?"

दूसरे ने कहा, "उसे सन्देह हुआ कि उसके साथ धोखा हुआ है।"

कान में एक और भनक पड़ी, "उससे क्षमा मंगाई गई है, कोई पठान यह सह नहीं सकता !"

और इन सब बातों का निष्कर्ष निकाला जाता, "तभी वह फ़रार हो गया है।"

लेकिन वास्तविकता क्या है, इसे पाले और उसके सहायक रमज़ान के सिवा कोई और शायद जानता ही न था।

५

सरकार से सुलह कर लेने के बाद पाले ने समझा था कि उसका शेष जीवन सुख और शांति से बीत जायगा; उसे अब छिप-छिपकर रहने की आवश्यकता न होगी। इसी से जीवन में पहली बार कारतूसों की पेटी, छुरा और पिस्तौल अपनी कमर से उतार कर परे रखकर उसने आराम से सोना चाहा था। लेकिन, जिस व्यक्ति के सिर पर अनेकों प्राणियों का ख़ून नाच रहा हो, उसे कभी भी आराम की नींद मिल जाये तो भगवान् का न्याय-आसन डोलने लगे। सरकार का कानून उसे क्षमा कर सकता है। अफ़सरों के रूलिंग उसे फिर से अपने में समेट सकते हैं; परन्तु उसका निर्णय अटल है। पत्थर की लकीर मिट सकती है, लेकिन कोई जौ बो कर गेहूँ काट नहीं सकता।

पाले अभी झपकी भी न ले पाया था कि रमज़ान ने कहा—"आक़ा !"

पाले हड़बड़ा के उठा और स्वभाव से विवश उसका दायाँ हाथ कमर पर जा अटका; लेकिन, वहाँ छुरा न था। तभी उसे भास हुआ

उसने उसे त्याग दिया है और मन-ही-मन लज्जित होता हुआ बोला, "क्या बात है ?"

रमज़ान का रंग उड़ा हुआ था; लेकिन उसकी आँखों से खून उतर रहा था। अपने को संभालते हुये बोला, "पीरा अंग्रेज़ और उसकी मेम को हमारी क़ैद से भगा ले गया है।"

पाले ने सुना तो गुर्राया। उसकी वह पैशाचिक भूख फिर जाग उठी। दीवार पर लटकी हुई दोनों चाक़ों को उसने एक-एक कर खूँटी से उतारकर अपनी कमर से कस लिया। बोला, "रमज़ान! मेरा ख्याल था, अब इन चीज़ों की ज़रूरत न पड़ेगी। लेकिन, मालूम होता है, इनसे मेरा उम्र-भर का साथ है।"

और जब पाले चलने लगा तो रमज़ान ने कहा, "जब आप इधर सुलह करने के लिये आये थे तो, उधर आपके वज़ीर भाई का आदमी पीरा से मिला था। मालूम होता है, इसमें उसका भी कुछ हाथ है!"

पाले सब समझ गया। यह उसी की शरारत है। उसे विश्वास हो गया होगा कि मेरी सुलह हो जायेगी और उसे नम्बरदारी से हटा दिया जायेगा। पाले एक बार ही दहाड़ उठा। उसे अपने उस वायदे की याद आई, जो उसने सरकारी अफ़सर के साथ किया था। वह उन दोनों अंग्रेज़ों को लौटा देगा।

चलते-चलते पाले ने पूछा, "तुमको कुछ पता है कि वह किधर भागे हैं ?"

रमज़ान अपने आक़ा से कम न था। उसने आज तक अनेक डकैतियों में पाले का साथ दिया था। और वह इन हथकंडों को अच्छी तरह पहचानने लगा था। बोला, "जी हुज़ूर! ख़बर मिलते ही मैंने अपने आदमी चारों तरफ़ दौड़ा दिये थे। पीरा दोनों को लेकर इस समय गुलशन की घाटियों में छिपा हुआ है। उसके साथ दस-पन्द्रह आदमी और भी हैं। उन्होंने सरकार को चिट्ठी भी लिखी है कि अगर उन्हें पन्द्रह हज़ार रुपया मिल जाये तो वह उन दोनों अंग्रेज़ों को लौटा देंगे।"

पाले ने एक बार घूमकर रमज़ान की ओर देखा। रमज़ान समझ गया कि पाले उसे धिक्कार रहा है, पता लग जाने पर तुम इन दोनों को छुड़ा नहीं सके ! शायद इसीलिये वह फिर बोला, "मैंने सोचा था कि पीरे पर हमला करके उनको छुड़ा लाऊँ और उसे इस विश्वासघात का मज़ा चखा दूँ। लेकिन आपके बिना मैं कभी अकेला लड़ा हो नहीं और फिर बहुत से हमारे आदमी उसके साथ मिल गये हैं !"

पाले मानो अपने दिल में ज्वालामुखी दबाये बैठा था। उसका लाल चेहरा तमतमा उठा और क्रोधावेश में उसका हाथ फिर कमर पर जा अटका।

पाले ने अपने जीवन में कभी पराजय का मुंह न देखा था। वह एक अकेला अनेकों के मुक़ाबिले में भारी था। आज भी जब उसने अपने साथियों के विश्वासघात की बात सुनी तो वह घबराया नहीं। उसे क्रोध तो ज़रूर आया; लेकिन, उसने धीरज हाथ से नहीं छोड़ा। केवल दस साथियों के साथ वह गुलशन की तरफ़ चल पड़ा।

पीरे ने सुना तो वह काँप उठा। वह पाले के बैर को अच्छी तरह जानता था। लेकिन, अब तीर कमान से छूट चुका था। इसलिये उसने भी अपना लश्कर इकट्ठा करना शुरू कर दिया। पाले के चचेरे भाई से भी उसने मदद मांगी और इस तरह लगभग चालीस-पैंतालीस आदमी जुटा लिये। परन्तु इतना होते हुए भी उसे पाले का सामना करने का साहस न हुआ। वह एक ग़ार से दूसरी ग़ार में और दूसरी से तीसरी ग़ार में छिपता रहा।

आख़िर उन दोनों की मुठभेड़ हुई।

पाले जानता था, उसके पास आदमी बहुत कम हैं। लेकिन पीछे हटना उसने सीखा न था। इसलिए जब रमज़ान ने कहा, "आक़ा इस समय न लड़ो। हमारे पास आदमी कम हैं।" तो पाले चीख़ कर बोला, "कायर !" और तभी धाँय से उसने गोली दाग़ दी। दूर परे पहाड़ी पर खड़ा पीरे का पहरेदार चीत्कार करता हुआ गिर पड़ा।

एक घाँव ने अनेकों घाँव पैदा कर दीं। दोनों ओर से गोलियों की बौछार होने लगी। पीरा और उसके साथी पहाड़ी के ऊपर थे और पाले और उसके साथी नीचे। तो भी पाले उनके आदमी गिराता जाता था। उसका कोई निशाना खाली नहीं गया। हर कारतूस का मोल वह एक जान लेकर उगाहता। लेकिन उसका हारना निश्चित था। एक तो पीरे की सैनिक स्थिति अच्छी थी, दूसरे वह क़िलाबन्दी कर, अधिक सामान लिये हुए ज्यादा आदमियों के साथ लड़ रहा था। इसलिये गोलियाँ दाग़ते हुए पाले ने रमज़ान से कहा, "मैं इन सब लोगों को इधर लड़ाई में लगाये रखता हूँ, तुम पहाड़ी की पिछली तरफ़ से जाकर उन दोनों फिरंगियों को लेकर सीधे शहर चले जाओ। यदि मैं बच गया तो पहुँच जाऊँगा, नहीं तो यह दोनों उनके सुपुर्द कर देना। पठान का वायदा झूठ नहीं होना चाहिए!"

आक़ा की आज्ञा पाते ही रमज़ान चल पड़ा। इधर पाले ने गोलियों की बौछार और भी घनी कर दी। लेकिन उसने देखा कि उसके कारतूस निबट रहे हैं और उसके पास केवल चार साथी बाकी हैं। तो भी उसने दिल नहीं हारा।

इसी समय रमज़ान पिछली तरफ़ से पहाड़ी पर चढ़ा और चुपके से उन दोनों अंग्रेज़ों को साथ लेकर भाग गया। पीरे को जब पता लगा तो वह उसके पीछे जाने लगा। लेकिन तभी पाले का छुरा आकर उसके पेट में लगा। बदले में उसने गोली दाग़ी जो पाले की छाती भेदती हुई निकल गई।

सरदारों के मर जाने पर लश्कर कभी लड़ा नहीं करते। बचे आदमी भाग गये।

शहर पहुँचकर रमज़ान ने दोनों अंग्रेज़ अफ़सरों के हवाले कर दिये। जब एक अफ़सर ने पूछा, "पाले कहाँ है?" तो वह कोई उत्तर न दे सका। बहुत कोशिश करने पर इतना ही कह सका, "पाले ने अपना वायदा पूरा कर दिया। अब तुम्हारी बारी है।"